THE BOOK WAS DRENCHED

गाँव बाबैल (पानीपत) निवासी

श्रद्धेय, शिक्षा-प्रेमी और शिक्षा-सुधारक

स्व० रायबहादुर लाला मक्खनलाल जी मित्तल

सी० ई०, एम० आई० ई०

भूतपूर्व चीफ इञ्जीनियर, और मिनिस्टर जम्मू राज्य

की पुण्य स्मृति में

इस पुस्तक के संस्करण

पहला संस्करण	१००० प्रतियाँ	सन् १९२० ई०
दूसरा ”	७५० ”	” १९३५ ”
तीसरा ”	६२५ ”	” १९३९ ”
चौथा ”	५०० ”	” १९४५ ”

निवेदन

भारतवर्ष एक विशाल राष्ट्र है। इसकी जागृति का विषय इतना महान और उसका मौजूदा स्वरूप हमारे इतना नजदीक है कि उसपर दो सौ सफे की छोटी सी पुस्तक में अच्छी तरह विचार करना बहुत ही कठिन है। फिर भी जहाँ तक बन आया, उसका कुछ परिचय देने की को कोशिश की गयी है।

वह समय बड़ी तेजी से आ रहा है, जब भारतवर्ष जागृत और स्वाधीन होकर दीन दुखी मानव जनता को शुभ संदेश देगा और विश्व-परिवार में अपना योग्य स्थान प्राप्त करेगा। जरूरत है कि हम जागृति के रूप को अच्छी तरह समझें और जिस क्षेत्र में हमारी रुचि और योग्यता हो, उसमें भरसक मदद देकर अपना फर्ज पूरा करें।

आंध्र विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक को बी० काम० क्लास के पाठ्य क्रम में रखने की कृपा है, और भी कई संस्थाओं ने इसे अपनाया है। उनकी मांग के कारण हमें इसका नया संस्करण तैयार करने का अवसर मिला है, और हमने कागज का संकट होते हुए भी, इसकी थोड़ी सी प्रतियाँ छपाने का साहस किया है। हम उन सब का बड़ा अहसान मानते हैं।

विनीत

विषय सूची





पहला अध्याय

विषय प्रवेश



लम्बी से लम्बी रात अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है, और मालूम होता है कि दारुण से दारुण दुःख का अन्त होने वाला है। जो लोग अब भी यह नहीं देख सकते कि हमारी यह मातृभूमि अपनी गहरी लम्बी नींद से जाग रही है, वे या तो नेत्र-हीन हैं, या जान बूझ कर ज़िद्दी हैं। कोई अब उसे रोक नहीं सकता, कदापि अब वह सो नहीं सकती। संसार की कोई शक्ति या शक्तियाँ अब उसे पीछे हटा नहीं सकतीं, क्योंकि यह अनन्त शक्तिशाली देवी अपने पैरों पर खड़ी हो रही है। *—विवेकानन्द*

जागृति एक कुदरती घटना है। रात के बाद दिन होता है। पेड़ और पौधे सोते और जागते हैं। पशु पक्षियों और आदमियों की नींद और जागृति होती है, तो सोये हुए देशों के जागने की आशा करना अनुचित नहीं। बीमारियों का इलाज होता है, रोगियों की मरे हुओं में गिनती करना भूल है, तो पिछड़े हुए या कमजोर और दुखी राष्ट्रों की मृत्यु का हिसाब लगाना बुद्धिमानी की बात नहीं। हाँ, राष्ट्रों की बीमारी और नींद मनुष्यों की कई कई पीढ़ियों तक रह सहती हैं, और उनके उत्थान तथा जागृति की आशा और कल्पना करने के लिए निस्संदेह विशेष उदार बुद्धि की आवश्यकता है।

जागृति का अभिप्राय—'जागृति' हमारे प्रति दिन के व्यवहार की भाषा का शब्द है। तथापि इस पुस्तक में इस विषय का विवेचन

होने से इस शब्द के अर्थ पर कुछ विशेष विचार किया जाना आवश्यक है। जागृति मनुष्य की वह दशा है, जिस में उसे अपनी अवस्था और परिस्थिति का ज्ञान होता है, वह दोषों और विकारों को दूर करके अपना सुधार या उन्नति करने के प्रयत्न करता है, चाहे ये प्रयत्न कितने ही मन्द गति के हों, अथवा कुछ दशाओं में वे असफल भी क्यों न हों। इसी प्रकार वह देश जागृत कहा जा सकता है जिसकी जनता सामूहिक और सङ्गठित रूप में अपनी धार्मिक, सामाजिक आदि स्थिति का विचार करती है, और आर्थिक या राजनैतिक आदि बाधाओं का निवारण करके, सब विषयों में यथेष्ट सुधार करती हुई संसार में अपना उचित स्थान पाने का प्रयत्न करती है। इसके विपरीत, लोगों का असंगठित रहना, अपने आपको बहुत उन्नत या ऊँचा मानकर अभिमान करना, निष्क्रिय बने रहना, बेसुध रहना, आस पास के देशों से कुछ सम्बन्ध ही न रखना, जागृति के अभाव के लक्षण हैं। जागृत देशों में नाना प्रकार के आविष्कार, सुधार, संशोधन, और नये विचारों का आगमन होता रहता है; उन देशों के आदमी मिथ्या सन्तोष तथा अहङ्कार का तिरस्कार करते हैं। इस प्रकार जनता का होशियारी से परिवर्तन, सुधार और उन्नति करना ही उसकी जागृति है।

विविध दृष्टिकोण—जागृति की अवस्था को भिन्न भिन्न आदमी जुदा जुदा दृष्टि से देखते हैं। प्रायः विवेकशील लेखक, और दूरदर्शी महानुभावों के लिए, तथा मनुष्य मात्र से प्रेम करने वाले निःस्वार्थी सज्जनों के लिए किसी देश की जागृति का दृश्य आनन्ददायी होता है। परन्तु उन लोगों के लिए जिनके स्वार्थों में बाधा आने की सम्भावना है, जिन्हें पुरानी आदतें छोड़कर नया ढङ्ग अपनाना नहीं रुचता, जागृति की प्रारम्भिक स्थिति बहुधा कष्ट देने वाली

होती है। बहुत से आदमियों को बात बात में आशंका होती है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, तथा राजनैतिक आदि हर प्रकार के काम में गड़बड़ी, असन्तोष और कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें देखकर साधारण आदमी प्रसन्न नहीं हो सकता; तथापि जागृति की यह स्थिति देश की भावी कल्याणकारी दशा के लिए ऐसी ही आवश्यक तथा अनिवार्य है, जैसी सुहावनी बसन्त ऋतु के लिए पतझड़ की मौसम होती है। इसलिए हर देश के निवासियों को अपनी आपत्तियों से न घबराकर जागृति का हार्दिक स्वागत करना चाहिए।

जागृति का क्षेत्र—जागृति के प्रभाव और क्षेत्र का अनुमान साधारण संकुचित विचार वालों को नहीं हो सकता। बहुधा एक प्रकार की लहर बहुत छोटे से रूप में पैदा होकर धीरेधीरे विराट रूप धारण कर लेती है। धार्मिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन का सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक आन्दोलन में परिणत होना राष्ट्रों के इतिहास की साधारण घटना है। निस्संदेह एक शक्ति उत्पन्न होने की देर है; फिर, उसका रूप बदलना बड़ी बात नहीं है। इसी प्रकार एक देश की जागृति बहुधा विस्तार पाकर न केवल आसपास के देशों में ही अपना प्रभाव डालती है, वरन् अनुकूल अवस्था होने पर सात समुद्र पार तक अपना जौहर दिखा सकती है।

अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में योरपीय महाद्वीप के फ्राँस देश में जो स्वाधीनता और भ्रातृ-भाव का उदय हुआ, उसने सारे योरप में ही अपना प्रभाव नहीं डाला, वरन् संयुक्त-राज्य-अमरीका में भी स्वाधीनता की घोषणा होने में सहायता दी। बीसवीं सदी में योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) ने, और पीछे रूस की जारशाही के अंत, सोवियट शासन की स्थापना, और समाजवाद

आन्दोलन ने संसार के कौनसे देश में हलचल पैदा नहीं की! और, अब वर्तमान महायुद्ध का असर किस देश पर नहीं पड़ रहा है!

जागृति का प्रारम्भ—किसी देश में जागृति होने के लिए जनता के कष्टों या संकटों का होना जरूरी है, परन्तु वही काफी नही है; साथ में उनको महसूस करनेवाली चेतन शक्ति की भी आवश्यकता है। इस का अभिप्राय यह है कि जागृति आरम्भ होने के लिए वह अवस्था कदापि अनुकूल नहीं, जब कि लोगों को कष्ट या अत्याचार सहन करने की ऐसी आदत हो कि वे उन को अत्याचार ही न समझें; वे उन्हें साधारण बात मान कर चुपचाप बैठे रहें।

जब किसी देश के मनुष्य वहाँ होने वाले अत्याचारों या क्लेशों को मिलकर अनुभव करने लगते हैं तो वे उनके दूर करने के उपाय भी निकालने का प्रयत्न करते हैं। ये प्रयत्न आरम्भ में बहुधा शान्ति-मय होते हैं। यदि इन से सफलता होती है तो मामला जल्दी निपट जाता है। परन्तु यदि अधिकारी वर्ग अपने स्वार्थ या अज्ञान के कारण, अत्याचारों को वास्तव में दूर न करके उलटा जागृति के आन्दोलन को दबाते हैं, और जनता अपने कष्टों को अनुभव करने की शक्ति बनाये रखती है तो उसके असन्तोष की मात्रा बढ़ती जाती है, आदमी उग्र उपाय काम में लाने लगते हैं, संग्राम अधिकाधिक बिकट रूप धारण करता है।

जागृति रोकने के ढंग; साम, दाम—जागृति को रोकने के लिए अधिकारी या सत्ताधारी समय-समय पर जुदा-जुदा ढंग काम में लाया करते हैं। आन्दोलन करनेवाले नेताओं को यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि उनकी कार्यपद्धति अनुचित है। उनसे देश-हित

के नाम पर अपील की जाती है कि वे अपने आन्दोलन को शान्त करदें। कभी-कभी उन्हें अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पदों का अथवा धन या जागीर आदि का प्रलोभन किया जाता है। साधारण मनुष्यों के लिए ये उपाय काफ़ी हैं, परन्तु दृढ़, गंभीर और समझदार नेता अपने तय किये हुए काम को जारी रखते हैं, वे इनसे चलायमान नहीं होते।

दण्ड—आन्दोलन करने वालों की परीक्षा विविध प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट देकर भी की जाती है। प्राचीन काल में धर्माधिकारियों का बोलबाला था; उनका मुख्य दण्ड जाति-बाहर करना हुआ करता था, जिससे अभियुक्त अपने मित्रों के ही नहीं, वरन् अपने सगे सम्बन्धियों के भी प्रेम से वञ्चित रहें और नाना प्रकार की असुविधाएं झेलें। आजकल राज्याधिकारी क़ैद, कोड़े लगवाने, लाठी-वर्षा करने, जन्मभूमि से दूर कालेपानी भेजने, नज़रबन्द करने, आदि की सज़ाएँ देते हैं। देशभक्तों के लिए जननी-जन्मभूमि की सेवा से वंचित रहना, जीते-जी मृत्यु की वेदना अनुभव करना है। तो भी वे, जहाँ तक हो सकता है, अपना कर्तव्य पालन करने से नहीं हटते।

भेद—आन्दोलनों को दमन करने के लिए एक और उपाय भी काम में लाया जाता है। नेताओं में फूट डालने की कोशिश की जाती है। यदि यह सफल होजावे, उनमें अलग-अलग दलबन्दी हो जावे, तो लोगों के सामने बड़ी विकट समस्या पैदा हो जाती है। वे सहज ही यह नहीं जान सकते कि कौनसा नेता उन्हें आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति कराने में अन्त समय तक मदद देता रहेगा, और कौनसा बीच मझधार में उनका साथ छोड़ देगा; अथवा, कौनसा कार्यकर्ता अपने शुद्ध

अन्त:करण से काम कर रहा है, और कौनसा, अधिकारी-वर्ग के मायाजाल में फंसा हुआ है।

जनता की विजय—जागृति के आन्दोलनों में ज्यों ज्यों अधिक समय लगता है, त्यों त्यों उसका स्वरूप अधिकाधिक उग्र होता जाता है। साधारण अधिकारी अपने बपौती समझे हुए अधिकारों और स्वार्थों का सहसा त्याग करना नहीं चाहते (चाहे वे यह जान भी लें कि वे अधिकार या स्वार्थ असल में न्याय-विरुद्ध हैं), जब तक कि वे उनको छोड़ने के लिए मजबूर या लाचार न कर दिये जावें। वे अपने मान, या इज्जत को बनाये रखने के लिए जी-तोड़ कोशिश करते हैं। परन्तु धीरे धीरे जनसाधारण भी अपने जानमाल की माया-ममता छोड़ कर अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए विविध कार्य करने लगते हैं, और इसके फल-स्वरूप आनेवाली सब मुसीबतों का हंसते-खेलते स्वागत करते हैं।

कभी-कभी इतिहास में ऐसा भी देखा गया है कि एक देश के निवासियों के दु:खों से दूसरे देश के उदार सज्जन सहानुभूति करने लगते हैं, नि:स्वार्थ भाव से तरह तरह की सहायता देते हैं। परन्तु जिस प्रकार कोई राष्ट्र अधिकांश अपने ही प्रयत्नों से बनता (खड़ा होता) है, उसी प्रकार, वह प्राय: अपने ही उद्योग से जागृत होता है। विदेशी सहायता कुछ अंश में सहायक हो सकती है, परन्तु प्रत्येक देश के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी ही संतान के तन, मन, धन के भरोसे रहे।

प्रजा के सच्चे और अच्छे काम के आन्दोलन में भी यह जरूरी नहीं है कि प्रथम प्रयत्न में ही मनोरथ सिद्ध होजावे। बहुधा आन्दोलन कुछ समय के लिए दब जाते हैं, और सफलता-प्राप्ति के लिए बारबार

कोशिश करने की नीति काम में लानी होती है। समझदार कर्मवीर यह आशा और विश्वास रख कर काम करते हैं कि अन्त में सत्य की विजय निश्चित् और अनिवार्य है। वे बीच में समय समय पर आनेवाली बाधाओं से बिलकुल नहीं घबराते, अपना धीरज बनाये रखते हैं, और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं।

विजय का साधन; सत्याग्रह—विजय पाने के लिए हिंसक अहिंसक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग होता आया है। हाँ, सर्वसाधारण की दृष्टि युद्ध के स्थूल साधनों पर, हिंसक अस्त्रों और कार्यों पर अधिक रहती है; नैतिक गुणों और अहिंसक उपायों की महत्ता की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम जाता है। भारतवर्ष में, धार्मिक या सामाजिक क्षेत्र में, व्यक्तियों द्वारा अहिंसा वृत्ति का उपयोग चिरकाल से होता आया है। भक्त प्रह्लाद की अपने क्रूर अत्याचारी पिता हिरण्यकश्यप पर, और महर्षि वशिष्ट की अभिमानी विश्वमित्र पर, सत्याग्रह से विजय पाने की बात सब जानते हैं। ऐसे उदाहरण भारतवर्ष के अलावा अन्य देशों के इतिहास में भी मिलते हैं। पर अब से कुछ वर्ष पहले तक सत्याग्रह आदि अहिन्सक उपायों का सामूहिक रूप से विशेष उपयोग नहीं किया गया था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पाने के लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन उपहास या मजाक समझा जाता था। नयेनये घातक हथियारों वाली शासन-शक्ति के सामने प्रजा असहाय मालूम होती थी। उसे अपने उद्धार का कोई रास्ता ही नहीं मिलता था। जनता को ऐसे अस्त्र की बात सुझाने का श्रेय, जो बहुत प्रभावशाली होने के साथ अहिंसक भी हो, महर्षि टाल्सटाय और महात्मा गाँधी आदि सज्जनों को है। मानव समाज इस प्रयोग को उत्सुकता भरी निगाह से देख रही है।

मनुष्य जाति की काफी उन्नति न होने के कारण, अभी तक प्रायः पाशविक बल की तूती बोलती रही है, तो भी जान पड़ता है कि अब यह युग सत्याग्रह के निर्दोष अहिंसात्मक अस्त्र से जनता को सुसज्जित करके, उसे एक नयी और अचूक शक्ति प्रदान करेगा। इसके प्रयोग से जनता अपनी विशाल शक्ति का परिचय पायेगी, और, यह युग जन-सत्ता का युग कहलायेगा। निस्सन्देह हमें इस बात की बड़ी उत्कण्ठा है कि राष्ट्रों को, सुधारों के लिए, रक्तपात की ज़रूरत न रहे। मनुष्य अपने आत्म-बल से काम लेकर दूसरे जीवधारियों से अपनी विशेषता का प्रमाण दे, और पशु-बल का प्रयोग अपने से नीचे दर्जे के जीवों अर्थात् पशुओं, तथा असभ्य पुरुषों, के लिए छोड़ दे।

ऊपर हमने जागृति सम्बन्धी कुछ व्यापक और सिद्धाँत की बातों का विचार किया है। इस युग में देश-देश में जागृति और परिवर्तन हो रहा है। इन सब का अध्ययन और मनन बहुत मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है; परन्तु हमें यहाँ केवल भारतवर्ष का ही विचार करना है।

भारतवर्ष में परिवर्तन—दूसरे देशों की तरह यहाँ इस समय महान परिवर्तन हो रहे हैं, केवल राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और शिक्षा-सम्बन्धी आदि सभी विषयों में उथल-पुथल और क्रांति की भावना काम कर रही है। प्राचीन रूढ़ियों को तर्क और उपयोगिता की कसौटी पर कसा जा रहा है। महिलाओं के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का नाश करने वाले पर्दे को हटाया जा रहा है। विवाह सम्बन्धी आदर्श और रीति-रस्मों में परिवर्तन हो रहे हैं। बालक और युवा अब बड़े-बूढ़ों की बातें 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के भाव से ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं। किसान और मज़दूर अपने कष्टों के लिए, केवल भाग्य को दोषी समझ कर

नहीं रह सकते। ग्रामीण जनता अब राजकर्मचारियों के सामने गूंगी और बे-ज़बान बने रहना पसन्द नहीं करती; वह अपने कष्टों के विषय में सोचती है, कारण और कार्य पर विचार करती है, और अन्य देशों से अपनी तुलना करती है। शूद्र या नीच समझे जानेवालों को भी अब नयी रोशनी मिल रही है। उन्होंने आत्मोद्धार का बीड़ा उठा लिया है, और उसके लिए वे नाना प्रकार के कष्ट और त्याग सहन करने को तैयार हैं। बच्चों का पालन-पोषण करने तथा उन्हें शिक्षा देने की नयी-नयी विधियों पर विचार हो रहा है। प्रत्येक लड़का या लड़की किस प्रकार राज्य का उत्तम नागरिक बन कर अपना अधिकतम विकास कर सकता है, और देश के लिए अधिक से अधिक उपयोगी हो सकता है, इस विषय को सोचने विचारने में अच्छे-अच्छे दिमाग़ लगे हुए हैं। इसी तरह प्राचीन धर्म-ग्रन्थों को नयी निगाह से देखा जा रहा है, जनता केवल उनकी प्राचीनता के कारण ही उन पर अन्ध-विश्वास करने को तैयार नहीं। साहित्य की नवीन रचनाओं में निराला ही जीवन नजर आरहा है। राजा-प्रजा के अधिकारों तथा कर्तव्यों का नये सिरे से वर्गीकरण और बँटवारा हो रहा है। कहाँ तक गिनावें; संस्कार, सुधार और परिवर्तन आदि की विविध क्रियाएँ प्राचीन भारत को नवीन भारत बनाने में विलक्षण रूप से कटिबद्ध हैं।

इस परिस्थिति को हम 'जागृति' कहते हैं। हमारी यह धारणा है कि प्राचीन समय में चिरकाल तक भारतवर्ष यथेष्ट उन्नत तथा गौरव-वाला रह चुका है, बीच में वह कमजोर और पराधीन हो चला था; अब फिर वह चेतन हो रहा है, वह निद्रा छोड़ रहा है, और पूरी आशा है कि थोड़े समय में वह समृद्ध तथा शक्तिशाली बन कर

संसार में अपने महान् कर्तव्य का पालन करेगा, और संसार की अधिकांश दीन, दुखी जनता का ही नहीं, प्राणी-मात्र का कल्याण करने में समर्थ होगा।

क्या यह वास्तव में जागृति है ?—यह पूछा जा सकता है कि क्या वर्तमान काल में, यहाँ होनेवाले विविध प्रयत्न ठीक दिशा में ही हो रहे हैं ? क्या पुराने विचारों वाले अनेक आदमी आधुनिक सामाजिक सुधारों से असन्तुष्ट और अप्रसन्न नहीं हैं ? क्या आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनता अठारहवीं शताब्दी की अपेक्षा अधिक सुखी है ? क्या राजनैतिक आन्दोलन को, स्वार्थी विदेशियों की कौन कहे, कितने ही भारतवासी बहुत आशंका की दृष्टि से नहीं देख रहे हैं ! ऐसे सवाल करने वालों के भावों को ध्यान में रखते हुए भी, विचार करने से यह साफ मालूम हो जायगा कि भारतवर्ष इस समय सचेत होकर अपनी स्थिति को सुधारने के प्रयत्न में लगा है। वह अन्य देशों से अपनी तुलना करता है, अपने अभावों का दूर कर रहा है; और, चाहे कुछ दशाओं में स्थिति कभी-कभी चिन्ताजनक भी होती है, यह महान देश अब सुधार और उन्नति के लिए दृढ़ निश्चय या संकल्प किये हुए है, और इसे सफलता की पूरी आशा है। इसलिए वर्तमान अवस्था को 'जागृति' कहना उचित ही है।

आधुनिक जागृति से पहले की हालत—यह कहा जा सकता है कि हज़रत ईसा की अठारहवीं सदी ने भारतवर्ष को रोग-शय्या पर पड़ा छोड़ा। मुसलमानों की शासन-शक्ति खण्ड-खण्ड हो गयी थी। फ्रांसीसी और अंग्रेज़ जैसी बलवान, चतुर और साहसी जातियों के आक्रमणों के मुक़ाबले में, हिन्दू अपने साम्प्रदायिक या प्रान्तीय भेद-भावों और अज्ञानआदि के कारण, राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की रक्षा करने में असमर्थ साबित हो रहे थे। यहाँ का धर्म बड़ी चिन्ता पैदा करने वाली हालत में था, समाज दुर्बल और बेहोश था, जीने या

मरने का विकट प्रश्न सामने था। छोटे-मोटे अनेक चिकित्सक असफल हो चुके थे। विविध प्रान्तीय आन्दोलन देश को चेतन और निरोग न कर सके थे। साधारण आदमियों को बड़ी बेकली हो चली थी, कितने ही कमसमझ लोग निराश हो गये थे, और दूसरों का बुरा सोचनेवाले मन ही मन फूले नहीं समाते थे।

उन्नीसवीं सदी; अन्धकार और प्रकाश—उन्नीसवीं सदी आ गयी,परन्तु आशा-देवी ने जनता को ढाढ़स न बँधाया। बहुत थोड़े दूरदर्शी भारतीयों को स्वदेश के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रह गया था। रात्रि का मध्य था, जहाँ देखो, घोर अन्धकार था। धर्म का उच्च ध्येय और कर्तव्यमय सामाजिक जीवन की श्रेष्ठता भुलादी गयी थी। स्वार्थ, अत्याचार और पाखंड का निरंकुश शासन चल रहा था। भारत माता के अंग अंग से 'त्राहिमाम्, त्राहिमाम्' (मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो) की आवाज़ निकल रही थी, और सम्भव था कि भारतीय राष्ट्र का विशाल भवन खंड-खंड हो जाता, और भारतीय सभ्यता के आदर्श मिट जाते। ठीक ऐसे समय में भगवान कृष्ण के इस कथन की सत्यता का प्रमाण मिला कि जब आदमी धर्म से गिर जाते हैं तो उन्हें रास्ता बताने के लिए महान् आत्माओं का शुभागमन होता है। यहां श्री० राममोहनराय और दयानन्द आदि महापुरुषों ने जागृति की घोषणा की; उसका व्योरा आगे दिया जायगा।

जागृति के कारण; (१) पश्चिम का सम्बन्ध—भारतवर्ष की जागृति के कारणों में पश्चिमी देशों के सम्बन्ध का अच्छा स्थान है। सतरहवीं सदी में योरप के विविध देशों के निवासी भारतवर्ष आये। दुर्बल, मलिन, रोगी भारत उनकी चमकीली सभ्यता, नये रहन-सहन, और अनोखे रङ्ग-ढङ्ग को देख कर चकित होगया। भारतवासियों के

पुराने तथा संकुचित विचारों को नये, सजीव और प्रगतिशील विचारों का सामना करना पड़ा।

इसके साथ हमारे दोष देखनेवाले समालोचकों तथा ईसाई पादरियों ने उस समय की हालत से लाभ उठा, हमारे अवगुणों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया, और हमें यह विश्वास दिलाना आरम्भ कर दिया कि हमारे पूर्वज या पुरखे जङ्गली थे, और हम भी जङ्गली हैं; भारतवर्ष कभी सभ्य नहीं रहा है, और अब भी असभ्य है। इन लोगों के ऐसा कहने का उद्देश्य यह रहा होगा कि भारतवासी बारबार अपनी निन्दा सुनने से अपना सम्मान और आत्म-विश्वास खो बैठें, और उनमें ऐसा मानसिक विकार पैदा हो जावे कि वे हकूमत करनेवाली और दूसरी गोरी जातियों से बराबरी का दावा करने का कभी विचार ही न करें। अथवा, उनका यह उद्देश्य रहा होगा कि उनके देशों के लोग जानलें कि भारतवर्ष में शासकों तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों को बड़ी बड़ी कठिनाइयां सहनी पड़ती हैं, वे उनकी नीति का विशेष विरोध न करें, और उन्हें भरपूर सहायता करते रहें। जो हो, भारतवासियों पर उनका जादू चल गया; और, इन्होंने अन्धाधुन्ध पश्चिमी बातों की नकल करने पर कमर कसली।

कुछ समय बाद इन बातों में परिवर्तन होने लगा। योरपीय भाषाओं में, संस्कृत के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद होने से, योरपीय संसार भारतवर्ष के ऊंचे विचार, ज्ञान, प्रतिष्ठा तथा सभ्यता से परिचित होकर उस का आदर करने लगा। इससे भारतवासी भी अपने प्राचीन गौरव को याद करने लगे। उन्हें यह मालूम होने लगा कि विदेशी रीति नीति आदर्श नहीं, और योरपियन लोग देवता नहीं हैं, तथा, हम लोग भी निरे पशु नहीं

हैं। हमारे उनके बहुत कुछ गुण दोष समान ही हैं; जो अन्तर है, उसका भलीभाँति विचार करना चाहिए; यदि उनमें गुण हैं तो उनसे शिक्षा लेने में हानि नहीं। इस प्रकार विदेशी भावों की परख की जाने लगी, और स्वदेशी भावों का संचार हुआ।

२—शिक्षा और विज्ञान—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने व्यापार की वृद्धि के लिए ऊँच नीच, जो कोई उसकी शिक्षा लेने को तैयार हुआ, सब को पढ़ाने-लिखाने का प्रयत्न किया। इससे देश की नीची समझे जाने वाली जातियों के लोगों में शिक्षा का प्रवेश होने से, उनके विचारों में उथल-पुथल तथा जागृति का भाव आना सहज हो गया। इसी प्रकार धर्म-ग्रन्थों के संस्कृत से जनता की भाषाओं में अनुवाद होजाने से जन साधारण को उनका ज्ञान दुर्लभ न रहा; सब रहस्य प्रकाशित होने लगा। ग्रन्थों का प्रचार सुलभ करने का श्रेय छापेखाने को है। यह भी आधुनिक काल की देन है पाश्चात्य देशों ने (भौतिक) विज्ञान में जो उन्नति की थी, उसका भी यहाँ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इनबातों का विचार आगे प्रसङ्गानुसार किया जायगा। अस्तु, देश में शिक्षा, और वैज्ञानिक आविष्कारों का क्रमशः प्रचार बढ़ने से जनता को विविध प्रकार की विचार-सामग्री मिली, और जागृति का मार्ग सुगम हुआ।

३—अन्य देशों की जागृति—मनुष्य की भाँति, देशों पर भी एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है। जब जापान ने वैध (कान्स्टीच्यूशनल) राजप्रणाली स्थापित करके खूब उन्नति कर दिखायी, तुच्छ गिनी जानेवाली एशिया का एक छोटा सा देश संसार का प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बन गया, और उसने पश्चिम के विशाल रूस देश को युद्ध में हरा दिया तो इससे कुछ अंश में एशिया भर का मस्तक ऊँचा हो गया

और भारतवर्ष भी अपनी शक्ति का विचार करने लगा।

गत वर्षों में अरब, मिश्र, टर्की, फ़ारिस, अफ़गानिस्तान आदि मुस्लिम देशों में अच्छी प्रगति हुई। खासकर क्रान्तिकारी नेता ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमालपाशा ने टर्की से धार्मिक और सामाजिक अंध-विश्वासों और मिथ्या आडम्बरों को दूर कर दिया। भारतीय मुसलमानों पर इसका धीरे धीरे ही क्यों न हो, प्रभाव पड़े बिना न रहा। दूसरे एशियाई देशों में, चीन जैसे प्राचीन रूढ़ियों तथा रीति-रस्मों के समर्थक, तथा स्वेच्छाचारी शासन वाले देश ने प्रजातन्त्र राजप्रणाली का स्वागत किया। निदान, एक प्रकार से एशिया भर में जागृति का संचार हुआ, और इसका असर भारतवर्ष पर भी पड़ा।

४—**प्रवासी भारतीयों की दुरवस्था**—समम-समय पर कई कारणों से भारतवासी विदेशों में गये। उनका अपने घर में भी आदर नहीं था, बाहर उन्हें क्या सम्मान मिलता! विशेषतया ब्रिटिश साम्राज्य में, उनके मानसिक तथा शारीरिक कष्टों का कुछ अन्त न रहा। दक्षिण अफ्रीका में उन्हें दास बनाकर रखा गया, बात-बात में उनके लिए लात, घूँसों गालियों और हंटरों का उपयोग किया गया। स्त्रियों के सतीत्व की वहाँ रक्षा न रह सकी। शिक्षित, सभ्य और प्रतिष्ठित भारत-सन्तान भी वहाँ 'काले आदमी' होने के कारण सड़कों, रेलगाड़ियों और होटलों आदि में अपमानित की गयी। ये बातें कब तक सहन की जातीं! अन्त में स्वाभिमानी भारतीयों ने वहाँ की उस सरकार से संग्राम छेड़ दिया, जिसके पास तोपें और बन्दूकें थीं, और थी, क़ानून की अनियमित सत्ता। हज़ारों मज़दूरों ने एकदम हड़ताल की, नेताओं ने जेल में जाकर कठिन तपस्या की, स्त्रियों ने भी मातृभूमि की मान-रक्षा के लिए कैद आदि की विविध यातनाओं का सहर्ष

स्वागत किया। प्रवासी भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों ने इस देश से ब्रिटिश साम्राज्य का मोह हटाने में, तथा जागृति-यज्ञ में घी की आहुतियाँ डालने में भारी सहायता दी है। जो सत्याग्रह और असहयोग, शान्ति और अहिंसा, यहाँ आन्दोलन के प्राण हैं, उनका प्रयोग भी पहले दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। इससे स्पष्ट है कि प्रवासी भारतीयों की दुरवस्था का, हमारी जागृति में कैसा महत्वपूर्ण भाग है।

भारतीय जागृति का विकास—साधारणतः हम यह कहना अनुचित नहीं समझते कि भारतीय जागृति का उन्नीसवीं सदी में धीरे धीरे विकास हुआ; यथा समय धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, और औद्योगिक आन्दोलन आरम्भ हुए। यद्यपि राजनैतिक जागृति का परिचय सूक्ष्म स्वरूप में, राजा राममोहनराय के कार्यों में भी मिलता है, साधारण तौर से उसे गत साठ वर्ष की ही मानते हैं। भारतीय कांग्रेस या राष्ट्र-सभा की स्थापना ने जागृति के सभी आन्दोलनों में नयी जान फूँक दी। क्रमशः राष्ट्रीयता बढ़ती गयी पिछले योरपीय महायुद्ध ने जागृति की गति और सभी भी तेज करदी। यह महायुद्ध स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धांत को लेकर लड़ा गया था। भारतवासियों ने इसमें अपने जन धन की खूब आहुति दी थी। उन्होंने भारतवर्ष के लिए भी उस सिद्धान्त को लगाये जाने के वास्ते संसार के राष्ट्रों से अनुरोध किया, और जब उन्होंने इसमें शासकों की हिचकिचाहट देखी तो वे अपने पैरों पर खड़े होने को आरूढ़ होगये। इस समय दूसरे महायुद्ध के कारण लोगों पर बड़ी-बड़ी मुसीबतें हैं, पर जागृति का लक्ष्य हमारे सामने बना हुआ है।

विवेचन की सुविधा के लिए हम जागृति के धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक. राजनैतिक आदि अंगों का अलग-अलग विचार करेंगे; वैसे असल में जागृति को जुदा जुदा हिस्सों में बाँटा नहीं जा सकता। जिस तरह हमारे शरीर के विविध अंगों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार किसी जाति या राष्ट्र की धार्मिक आदि एक तरह की जागृति का दूसरे प्रकार की जागृति से गहरा सम्बन्ध होता है; यहाँ तक कि वह अकसर दूसरी का कारण होती है, अथवा उसका परिणाम। अगले अध्यायों को अवलोकन करते समय यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए।



दूसरा अध्याय

धर्म



"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"

धर्म बड़ी व्यापक वस्तुः है; इसका अर्थ है कर्तव्य या फर्ज। धर्म के अन्दर हमारे सब तरह के कर्तव्य शामिल होते हैं। पर यहाँ हम धर्म का मतलब उन्हीं बातो से लेंगे, जिन्हें साधारण बोलचाल में धार्मिक समझा जाता है, जैसे ईश्वर की स्तुति प्रार्थना, नमाज़, संध्या-वन्दन या पूजा पाठ आदि। धार्मिक जागृति का मतलब यह है कि हम सब धर्मों से सहानुभूति और समता या बराबरी का भाव रखें; सब आदमियों को परम पिता परमात्मा की सन्तान मानते हुए उनसे बंधुत्व या भाईचारे का व्यवहार करें, और धर्म के नाम पर बर्ती जाने

वाली उन सब कुरीतियों को दूर करें, जिनसे समाज या देश को हानि पहुँचती हो।

अठारहवीं सदी में धार्मिक स्थिति—भारतवर्ष में समय समय पर कितनी ही धार्मिक लहरें उठी और शान्त हुई। जब जब आदमी कुमार्ग में जाने लगे, किसी न किसी महापुरुष ने लोगों को सच्चा रास्ता दिखाया। इस विषय में यहाँ विस्तार से लिखने की जरूरत नहीं है। हमें खास तौर से यह जान लेना है कि अज्ञान के समय धर्म का ज्ञान-भाग कम हो जाता है और कर्मकाँड यानी बाहरी रीति रस्मों का महत्व बहुत ज्यादह हो जाता है। आदमियों में स्वतन्त्र विचार करने की भावना या शक्ति नहीं रहती, वे विविध धार्मिक कार्यों के असली उद्देश्यों को भूल कर, केवल रूढ़ियों के उपासक बन बैठते हैं। वे यह नहीं सोचते कि अमुक कार्य करना उचित है या नहीं; और, यदि उसे करना चाहिए तो क्यों। वे परम्परा के आधार पर चलते हैं, या दूसरों की देखादेखी अपना कार्य-क्रम बनाते हैं। इस प्रकार अन्ध श्रद्धा, तर्क-शून्यता और तंगदिली का साम्राज्य हो जाता है। यह बात अठारहवीं सदी के अन्त में, यहाँ विशेषतया बंगाल में बहुत ज्यादह थी। इस प्रान्त के आदमी धर्म के असली आदर्श को भूल कर काली-पूजा आदि में बेढब लगे हुए थे; यहाँ तन्त्रवाद का खूब प्रचार था, और धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार हो रहे थे।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज—श्री० राजा राममोहनराय (सन् १७७४-१८३३ ई०) वर्तमान जागृति के प्रवर्तक या आरम्भ करनेवाले माने जाते हैं। उन्होंने उस समय की हालत पर

विचार किया, संस्कृत भाषा के वेदान्त सूत्रों को बंगला और हिन्दी में छपाया, तथा कई उपनिषदें हिन्दी और अंगरेजी की टीका सहित छपवाईं, जिससे साधारण बुद्धि वाले भी उन्हें समझ सकें. वे स्वार्थी पण्डितों को बताया हुआ उलटा-सीधा अर्थ न मान लिया करें; वे जानलें कि हमारे मूल शास्त्रों के अनुसार, जगत को बनानेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला. और उसका नाश करनेवाला केवल ईश्वर ही है, और वही उपासना या पूजा के योग्य है।

राजा साहब के द्वारा सन् १८२८ में स्थापित ब्रह्म समाज के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार थे:—अखिल ब्रह्मांड का स्वामी, निराकार, अनादि और अनन्त परमेश्वर ही पूजा के योग्य है, किसी साम्प्रदायिक नाम से उपासना नहीं हो सकती। चाहे जिस जाति, सम्प्रदाय, धर्म, समाज या पद के क्यों न हों, सब मनुष्यों का, परमेश्वर की उपासना करने के लिए समान अधिकार है। किसी प्रकार का चित्र, प्रतिमा, मूर्ति या ऐसे पदार्थ का उपासना में उपयोग न किया जायगा, जिसको किसी समय ईश्वर के स्थान में माने जाने की शंका हो। पूजा में कोई खाने पीने की चीज़ नहीं चढ़ायी जायगी, और कोई बलिदान न किया जायगा। किसी प्रकार की जीव-हिंसा न की जावेगी। बहुत ही आवश्यकता हुए बिना उपासना-मन्दिर में कोई खान-पान न किया जायगा। किसी जीव या पदार्थ की, जिसे कोई मनुष्य या सम्प्रदाय पूज्य मानता हो, निन्दा न की जायगी। मन्दिर में केवल उसी प्रकार की कथा, प्रार्थना और संगीत होगा जिससे सृष्टिकर्ता का ध्यान करने की ओर अधिक रुचि हो, और जिससे प्रेम, नीति भक्ति, दया और साधुता का उत्तरोत्तर अधिक प्रचार हो, तथा सब प्रकार के मत मतान्तर वाले मनुष्यों का बड़ा शक्तिशाली संगठन हो सके।

इन बातों में सार्वभौम उपासना का भाव ही राजा राममोहन राय की विशेषता है। दूसरी बातें यहाँ हज़ारों वर्ष से मालूम थीं, हाँ उस समय अमल में नही आ रही थीं; राजा साहब ने उन्हें फिर याद दिलाया। ब्रह्म-समाज का रूप हिन्दू-धर्म से मिलता है, तथापि सर्व-साधारण में सभा करके प्रार्थना करना आदि कुछ विदेशी भाव भी हैं। जब कि एक ओर नयी (पाश्चात्य) सभ्यता का मनोहर स्वरूप सामने हो और दूसरी ओर स्वदेश का अज्ञान, अन्धकार, कुरीति, कलह, फूट, निर्बलता, और अत्याचार विद्यमान हो, तो प्रथम सुधारक संस्था में कुछ विदेशी भाव का आजाना स्वाभाविक है। निस्संदेह राजा साहब और ब्रह्म-समाज ने, तथा पीछे देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित नवीन ब्रह्म-समाज और आदि-ब्रह्म-समाज ने, और बम्बई प्रान्त की प्रार्थना-समाज ने अपने क्षेत्र तथा शक्ति के अनुसार दीन दुखी जनता को आशामय भविष्य की सूचना दी। इन्होंने अनेक कठिनाइयों को सहन कर, प्रचलित अन्ध विश्वास और कट्टरता का निर्भीकता से सामना किया, तथा आनेवाले कार्यकर्ताओं के लिए रास्ता कुछ आसान कर दिया।

परन्तु विशाल भारत के घोर अन्धकार के समय इनका प्रकाश काफी नहीं हुआ। भारतीय प्रकृति इस पाश्चात्य रंग के आन्दोलन के अनुकूल भी नहीं थी। ब्रह्म-समाज का क्षेत्र विशेषतया बंगाल प्रान्त में ही रहा। यहाँ भी अधिकतर पढ़े लिखे आदमी ही इसमें शामिल हुए। यद्यपि इसने हरिजन आन्दोलन आदि में भाग लिया है, प्रायः यह संस्था प्रगतिशील नही रही है। इसने जनता की समय-समय पर उत्पन्न होने-वाली समस्याओं को हल नहीं किया; इसका प्रचार भी सर्वसाधारण

में कम रहा। अस्तु, एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी, जो भारतीय जनता की जागृति में मदद देने के साथ उसे अपने पैरों पर खड़े होने का संदेश दे, और पश्चिमी रंग में रंगे जाने से बचावे।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज—इस प्रकार की संस्था के जन्मदाता श्री० स्वामी दयानन्द (सन् १८२४ - ८३ ई०) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने जीवन भर ब्रह्मचारी रह कर वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और मनन किया; भारतीय शिक्षा और सभ्यता को ही आदर्श माना; और वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत मानते हुए, उन्हीं को जागृति का आधार बनाया। इन्होंने सुधार-मंत्र की दीक्षा अंग्रेज़ी शिक्षा से नहीं ली थी, ये पाश्चात्य सभ्यता पर मुग्ध नहीं हुए थे। तथापि इन्होंने स्थान-स्थान पर विशेषकर पंजाब, संयुक्तप्रान्त, बम्बई और राजपूताने में घूम फिर कर, विविध विषयों पर व्याख्यान और उपदेश देकर, सर्वसाधारण में धार्मिक और सामाजिक जागृति की। सुधार-कार्य जारी रखने के लिए स्वामीजी ने कुछ स्थानों पर अपने जीवन-काल में ही आर्यसमाजें स्थापित करदी थीं। बहुत से स्थानों में इन समाजों की स्थापना इनके बाद हुई। इन संस्थाओं ने वैदिक धर्म का प्रचार किया; विविध सामाजिक कुरीतियों के अलावा, मंदिरों और तीर्थों की बुराइयों को दूर किया। आर्य समाज ने बड़ी दृढ़ता से हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरव, सभ्यता और आदर्श की याद दिलाकर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की खूब कोशिश की।

आर्य समाज का सबसे अधिक प्रचार पंजाब में हुआ। दूसरे प्रान्तों में भी इसका ख़ासा प्रभाव पड़ा। इसने जनता में भरसक काम किया। शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में आर्य समाज में दो दल हैं—

एक, प्राचीन ढंग की गुरुकुल-प्रणाली का समर्थक है; दूसरा, आधुनिक पद्धति के कालिजों और स्कूलों का। समाज-सुधार में यह बाल-विवाह-निषेध, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि आदि में लगा है। यद्यपि कहीं कहीं समाजों में दलबन्दी के कारण कुछ दोष दिखायी देते हैं, प्राय: आर्यसमाजी खूब उत्साह से काम करते हैं, और अपनी संस्था को समयानुकूल उपयोगी और जीवित जागृत रखने में लगे रहते हैं।

कर्नल आल्काट और थियोसोफ़ी—चिरकाल के सोये हुए, अपने पूर्व गौरव को भूले हुए राष्ट्रों का उत्थान एक दम नहीं हो पाता। भारतवर्ष की जागृति के लिए अन्य आन्दोलनों की भी आवश्यकता थी। स्वामी दयानन्द यह शंख-नाद कर चुके थे कि भारतीय (वैदिक) धर्म किसी बात में अन्य (विदेशी) धर्मों से कम गौरव का नहीं—यह सबका सिरताज है। आवश्यकता थी कि कोई विदेशी प्रतिष्ठित विद्वान् इसका समर्थन करे। ईश्वर के अपार अनुग्रह से और स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती के सहयोग से कर्नल आल्काट यहाँ सन् १८७९ ई० में पधारे। ये अमरीका निवासी थे। इन्होंने, और रूसी महिला एच पी. बलेवट्स्की ने, न्यूयार्क नगर में १८७५ ई० में थियोसोफ़ीकल सोसायटी स्थापित की थी। विदेशियों द्वारा, विदेश में ही स्थापित इस सभा के अधिकांश सभासद भी विदेशी ही हैं, परन्तु इसने भारतीय राष्ट्र के उत्थान में अच्छा भाग लिया है। विश्वव्यापी भ्रातृभाव का उपदेश सुनाते हुए इस सोसायटी ने हिन्दुओं को सुझाया कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म वास्तव में बहुत ऊँचे दर्जे का है, उसका गौरव पहिचानो; उसमें जो दुर्गुण आघुसे हैं, उन्हें निकाल बाहर करो; स्वधर्म पर दृढ़ रहो, ईसाई पादरियों के बहकावे में आकर उससे बिलकुल न हटो। आर्य समाज की खण्डन-मण्डन की नीति से

दूर रहते हुए थियोसोफिकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म की अनेक ऐसी बातों का गूढ़ रहस्य भी दर्शाया, जो केवल अन्ध विश्वास के कारण मानी जा रही थीं, परन्तु जिनका असली उद्देश्य भुला दिया गया था।

भारतवर्ष में इस सोसाइटी की स्थापना अदयार (मद्रास) में हुई। कुछ समय बाद सुप्रसिद्ध आयरिश महिला श्रीमती एनीबिसेन्ट इसमें योग देने लगी। इनके महान व्यक्तित्व से इस संस्था में अनेक विद्वान तथा नेता शामिल होगये। सोसायटी का कार्यालय भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध धर्म-केन्द्र काशी में रखा गया। यहां सेन्ट्रल हिन्दू कालिज स्थापित हुआ, जो अब हिन्दू विश्व विद्यालय के अन्तर्गत है। विविध स्थानों में इस सोसायटी की ओर से स्कूल खोले गये। अब भी, विशेषतया छोटे बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए यह सोसायटी बहुत अच्छे विद्यालयों और छात्रावासों का संचालन कर रही है। शिक्षा-प्रचार के अतिरिक्त समाज-सुधार में भी इस संस्था ने अच्छा भाग लिया है।

स्वामी विवेकानन्द, और रामकृष्ण मिशन—अमरीका आदि देशों में हिन्दू धर्म की घोषणा करने का विशेष यश श्री० रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३३-१९०२ ई०) के प्रसिद्ध शिष्य श्री विवेकानन्द जी को है। इन्होंने, तथा इनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने, जनता को वेदान्त सम्बन्धी भ्रम दूर करके इसकी समयोपयोगी शिक्षा दी; इस नीरस विषय को श्रोताओं के सामने बड़ा सरस बना कर रखा; विदेशों में भारतवर्ष का गौरव दिखा कर एक ओर तो वहाँ वालों को यह समझाया कि भारत इतना पतित नहीं, जितना वे उसे समझते हैं—इस पतित अवस्था में भी यह उन्हें बहुत कुछ शिक्षा देने के योग्य है—दूसरी ओर स्वयं भारतवासियों को "उत्तिष्ठ जागृत प्राप्य वरान्निबोधत"

का कल्याणकारी उपदेश दिया।

स्वामी विवेकानन्द ने इस बात में भी महत्वपूर्ण योग दिया कि हिन्दू जाति दूसरी जातियों के सद्गुणों को ग्रहण करे, और इसमें आत्म-विश्वास हो; यह अपनी शक्ति का अनुभव करे। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ ने यह सिद्ध कर दिखाया कि संसार में हिन्दू सभ्यता का उच्च स्थान है और हिन्दुओं का वेदान्त धर्म और तत्वज्ञान, केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, मनुष्य मात्र के कल्याण के वास्ते है। रामकृष्ण मिशन की ओर से अनेक स्थानों में सेवा-आश्रम स्थापित हैं, जो विशेषतया रोगियों की चिकित्सा का अच्छा काम कर रहे हैं।

इन आन्दोलनों का प्रभाव—भारतवर्ष की जनसंख्या को देखते, इन संस्थाओं के सभासद विशेष नहीं है। अधिकाँश आदमी सनातन-धर्मी ही हैं। परन्तु इन आन्दोलनों का प्रभाव थोड़ा बहुत उन पर भी पड़ा है। उदाहरण के तौर पर बहुत से मनुष्य, जो अपने आपको साफ़ तौर पर आर्यसमाजी स्वीकार नहीं करते, कार्य-रूप में बहुत-कुछ आर्यसमाजी हैं। अब 'सुधार' से लोगों को पहले के समान घृणा सी नहीं रही। देश में ऐसी अनेक सभा सोसाइटियाँ हैं, जो अपने अपने क्षेत्रमें कुछ सुधार-कार्य कर रही है।

हाँ, कुछ गम्भीर विचार करने पर यह मानना पड़ेगा कि अधिकतर धार्मिक कही जाने वाली संस्थाओं का दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण है। ये संस्थाऐं धार्मिक क्रान्ति या स्वाधीनता पैदा न कर, एक प्रकार से सम्प्रदाय, पन्थ या मठ के रूप में जीवित हैं, और मानसिक दासता को बनाये रखने में सहायक हैं। हमें ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी आचार्य की बातों को 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' समझना, कुछ विशेष

ग्रन्थों की दासता, प्रत्येक नये विचार को प्राचीन ग्रन्थों में खोजना, और उससे आगे बढ़ने में असमर्थ होना धार्मिक जागृति के प्रवाह के विरुद्ध जाना है। आशा है, प्रत्येक धार्मिक संस्था के अधिकारी इस खरी बात पर भली भाँति विचार कर अपना महान कर्तव्य पालन करेंगे।

भक्ति सम्प्रदाय—ऊपर उन संस्थाओं के सम्बन्ध में लिखा गया है, जिनका जन्म जागृति-काल में हुआ है। भक्ति सम्प्रदाय भारतवर्ष की प्राचीन सम्पत्ति है. इस समय भी यह बड़े परिमाण में मौजूद है, और आधुनिक अशान्ति के समय इसकी वृद्धि हो रही है। अनेक भक्तों ने समय-समय पर लोगों के सामने धर्म का विशाल दृष्टिकोण रखा है। वैष्णव, शैव, शाक्त महात्माओं ने अपने-अपने समय में जनता की अच्छी सेवा की है। अब भी सिद्धान्त से प्रत्येक वैष्णव यह मानता है कि वैष्णव धर्म की दीक्षा लेनेवाले सब आदमी बराबर हैं, उनमें जाति या वर्ण का भेद नहीं रहता। इसी प्रकार शैव और शाक्त भी अपने अपने क्षेत्र में एकता का विचार रखते हैं। सबका कथन है कि 'हरि को भजे सो हरि का होई, जाति-पाँति पूछे नहीं कोई'। परन्तु खेद है कि प्रत्येक सम्प्रदाय की उदारता अपने अपने क्षेत्र तक परिमित है, उस क्षेत्रसे बाहर की दुनिया को वह उसी दृष्टि से नहीं देखता। अनेक बार तो जुदा-जुदा सम्प्रदायों के आदमी दूसरों से वाद-विवाद करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। यही नहीं, यदि कोई दलित जाति का, या विदेशी, या अन्य धर्मावलम्बी उनके धर्म की दीक्षा भी ले लेता है, तो कभी कभी उससे भी अलहदगी का विचार रखा जाता है। धार्मिक जागृति चाहती है कि इस स्थिति में यथेष्ट परिवर्तन हो।

अब हम कुछ 'धार्मिक' मतभेद के विषयों पर विचार करेंगे।

मूर्ति-पूजा—धर्म सम्बन्धी मत-भेद का एक मुख्य प्रश्न यह है कि ईश्वर साकार है, या निराकार। इसके वादविवाद में यहाँ बहुत-सा समय और शक्ति लगायी गयी, हज़ारों मनुष्यों की उपस्थिति में, बड़े-बड़े पण्डितों और शास्त्रियों में कई-कई दिन तक खूब जोर-शोर से शास्त्रार्थ हुए, परन्तु प्राय अच्छा नतीजा न निकला। सन्तोष की बात है कि अब इन कामों में शक्ति का दुरुपयोग कम हो रहा है। एक मनुष्य किसी एक नाम से ईश्वर को याद करता है, दूसरा उसे अन्य नामों से सम्बोधन करता है; एक उसका ध्यान बैठकर करता है, दूसरा खड़ा होकर; एक अपने घर में ही संध्या-प्रार्थना करता है, दूसरा नदी के किनारे या किसी ख़ास मन्दिर में; हमें इस में वादविवाद का कोई कारण मालूम नहीं होता। यदि एक ढंग असुविधाजनक है, तो वह धीरे धीरे बदल जायगा। इसमें झगड़े और खंडनमंडन की क्या ज़रूरत है? क्या परम पिता परमेश्वर हमारे छोटे-छोटे भेदों को सहन नहीं कर सकता!

सुधार की बात—हाँ, धर्म के नाम से होने वाला सभी कार्य अच्छा या ज़रूरी नहीं है। ईश्वर को खुश करने के लिए वृथा आडम्बर की आवश्यकता नहीं। मूर्ति-पूजकों के लिए थोड़े से खर्च से, एक साधारण मन्दिर में, प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो सकती है। परन्तु अनेक देवालय ऐसे हैं, जहाँ आवश्यकता से कई गुणा अधिक रुपया लगाये जाने से देश की उस सम्पत्ति में कमी करदी गयी है, जो दीन दुखी अशिक्षित जनता के लिए लगायी जाती तो बड़ा लाभ होता।

बहुत से नगर ऐसे हैं, जहाँ एक-एक मन्दिर से काम निकल सकता था; धनी लोगों ने अपना धर्म-भाव दिखाने के लिए वहाँ अलग अलग मन्दिर बनवा डाले। भारतवर्ष की वर्तमान दशा में इस तरह की फजूलखर्ची को बन्द करने की सख्त ज़रूरत है। फिर मन्दिरों के साथ यह जरूरी नहीं कि कुपढ़, दुराचारी या मुफ्तखोरे पण्डे पुजारियों को आसरा दिया जाए, और देश की गाढ़ी कमाई का जो पैसा आर्ती या पुजापे (चढ़ावे) में आवे, उससे निखट्टू लोगों की संख्या बढ़ायी जाए। इसी प्रकार तीर्थ यात्रादि के काम में भी देशहित का लक्ष्य बराबर रखाजाना चाहिए।

श्रद्धा का सदुपयोग--मूर्तिपूजा और तीर्थ यात्रादि में जन-साधारण की जो श्रद्धा बनी हुई है, उसका सहसा उठजाना सम्भव नहीं; हमारे विचार से उसके वास्ते झगड़ा करने की आवश्यकता भी नहीं। देश-हित के लिए यह ज़रूरी है कि उस शक्ति का देश-काल के अनुसार ही सदुपयोग हो। हमें चाहिए कि मन्दिरों, मठों और तीर्थ-स्थानों के साथ-साथ पुस्तकालय, वाचनालय, औषधालय आदि उप-योगी संस्थाएं जोड़दें, जिस से भेंट पूजादि में जो धन आवे, उसमें से उन्हें काफी सहायता मिले। मन्दिरों और मठों की स्थायी सम्पत्ति तथा जागीर की आमदनी का भी इसी प्रकार सद्व्यय हो। पुजारी पण्डों और महन्तों के बहुत योग्य, देश-हितैषी और उच्च विचार वाले होने की ज़रूरत है। फिर हम देखेंगे कि अनेक राष्ट्रीय कार्य्यों को सहज ही बहुत सहायता मिल सकती है। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है। कई स्थानों में मंन्दिरों और मठों की आमदनी सार्वजनिक कामों में खर्च की जाती है। बद्रीनाथ (गढ़वाल) आदि के लिए तो इस विषय का कानून ही बन गया है।

दान-धर्म—बहुत से आदमी दान पुण्य करते समय इस बात का विचार नहीं करते कि कैसे आदमी को दान दिया जाना चाहिए; वे अपनी श्रद्धा से, ऐसे हट्टे कट्टे भिखारियों और बनावटी साधु संन्यासियों को भी भोजन वस्त्र आदि देते रहते हैं, जिनका जीवन देश के लिए किसी प्रकार भी लाभकारी नहीं; इस प्रकार का दान धर्म परावलम्बन बढ़ाता है। यदि हम इन्हें मुफ्त में न खिलायें पिलायें तो ये अवश्य ही अपने निर्वाह के लिए कुछ मेहनत करें, और देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायक हों। हाँ, अनाथ बालकों, विधवाओं और अपाहिजों आदि की सहायता हर किसी को करनी चाहिए, और वह भी इस लोक या परलोक में मिलनेवाले फल की आशा को छोड़कर। आवश्यकता है कि भिन्न-भिन्न समाजें इस सम्बन्ध में यथेष्ट लोकमत तैयार करें। हमारा दान धर्म ऐसा हो, जिससे भिखारी भी योग्य नागरिक बनें, तथा अपनी आवारा जिन्दगी और बुरी आदतें छोड़ कर समाज की भलाई के लिए जी जान से कोशिश करने लगें।

हरिजन मंदिर-प्रवेश—जागृति-काल में इस विषय पर भी विचार किया गया कि हिन्दू मंदिरों में दलित जातियों के आदमियों को दर्शन करने की मनाही न रहे; उनकी तो भगवान के राम, कृष्ण, शिव आदि स्वरूपों में वैसी ही भक्ति है, जैसे दूसरे हिन्दुओं की। हां, यदि यह नियम किया जाय कि कोई आदमी हाथ पांव धोये बिना, या स्नान किये बिना मंदिर में न जाय, तो यह बात सब पर ही लागू होनी चाहिए। केवल हरिजन होने के आधार पर अनेक आदमियों को मन्दिर-प्रवेश न करने देने की बात अनुचित है। महात्मा गाँधी को यह अन्याय सहन न हुआ। उन्हों ने उसे हटाने का

आन्दोलन किया; उनकी इच्छा और इजाज़त से, भारतीय व्यवस्थापक सभा में हरिजन मन्दिर-प्रवेश बाधा-निवारण बिल और अस्पृश्यता-निवारण बिल उपस्थित करने का विचार किया गया।* पुराने विचार-वालों ने इन बिलों का घोर विरोध किया। महात्मा जी और दूसरे कार्यकर्त्ता उनके आक्षेपों का जवाब देते रहे, और, बिलों के पक्ष में लोकमत बढ़ाते रहे। पीछे ये बिल पेश नहीं किये गये; पर इस सम्बन्ध में लोकमत जागृत करने का प्रयत्न चलता रहा है।

शुद्धि आन्दोलन—धार्मिक स्वतंत्रता मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। भारतवर्ष में चिरकाल से यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता रहा है और इसी लिए हूण, सीथियन या यूनानी आदि जिन्हों ने यहाँ वैदिक या हिन्दू धर्म स्वीकार करना चाहा, वे बेरोक-टोक ऐसा कर सके। श्री० शिवाजी के समय तक भी कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि मुसलमानों ने जिन हिन्दुओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध मुसलमान बना लिया था, व फिर हिन्दू बनाये गये। लेकिन पीछे जाकर सर्वसाधारण ने यह बात भुलादी। हिन्दू तो दूसरे धर्मों में जाते रहे, परन्तु अन्य मत वालों को हिन्दू धर्म में आने की सुविधा न रही। इससे हिन्दुओं की तो संख्या घटती गयी, और ईसाइयों तथा मुसलमानों की बढ़ती गयी। जागृति के समय हिन्दुओं ने इस ओर ध्यान दिया। आर्य समाज ने बिछुड़े हुए हिन्दुओं का एवं अन्य धर्म वालों का सहर्ष स्वागत किया।

---

* पहिले बिल का उद्देश्य इस बात को दूर करना था कि बहुमत किसी मन्दिर को हरिजनों आदि के लिए खुलवाने के पक्ष में होने पर भी, एक आदमी उसका विरोध करके उसे रोक सकता है। दूसरे बिल का उद्देश्य यह था कि कि अदालत मे दीवानी या फ़ौजदारी क़ानून में अस्पृश्यता के लिए स्थान न रहे।

कट्टर हिन्दुओं का पहले तो बहुत विरोध रहा, पर पीछे वह कम होता गया। शुद्धि आन्दोलन में स्वामी श्रद्धानन्दजी आदि ने महान परिश्रम किया। इस समय भारतवर्षीय शुद्धि सभा यह कार्य कर रही है।

शुद्धि का रिवाज पुराना होने पर भी आधुनिक शुद्धि आन्दोलन मुसलमानों के तबलीग (धर्म-परिवर्तन) आन्दोलन का जवाब है। मुसलमानों ने अपनी संख्या बढ़ाने के लिए गरीब या कमज़ोर हिन्दुओं को अपने मज़हब में धूमधाम से मिलाया तो आख़िर, सुधारक हिन्दुओं ने, खासकर आर्य समाज ने भी 'शुद्धि' करनी शुरू कर दी। इस से साम्प्रदायिकता बढ़ी, दंगे हुए लोगों के जानमाल की हानि हुई। इसकी ज़िम्मेवरी अनसमझ मुसलमानों पर है। हम जिस अधिकार का उपयोग कर रहे हैं, उसका हमें दूसरों के लिए निषेध नहीं करना चाहिए। हाँ, हिन्दुओं को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी का यह समझना ठीक नहीं है कि मैं उच्च या शुद्ध हूँ, और दूसरे धर्म वाले अशुद्ध या नीच हैं। मनुष्यों की ऊँचाई और निचाई का माप, तथा शुद्ध अशुद्ध होने की कल्पना ऐसे आधार पर की जानी चाहिए, जिससे उनमें गुणों की बृद्धि हो, उनमें मनुष्यता या इन्सानियत, सफ़ाई, दया, उदारता, परोपकार और सेवा भाव आदि का विकास हो। इस प्रकार, जिनको हम हिन्दू बनाते हैं, उनके प्रति हमारा कितना उत्तरदायित्व है, यह साफ़ जाहिर है। यदि हम केवल संख्या बढ़ाने की चिन्ता न कर, इन सब बातों का विचार रखें तो हम कितने अच्छे मनुष्य हो जायँ, और दूसरों के अच्छे मनुष्य होने में कितने सहायक हो सकें! परन्तु हम तो प्रायः अपने को शुद्ध, तथा

दूसरों को अशुद्ध बताने में ही लगे रहते हैं। क्या ही अच्छा हो, हम अपने मानसिक विकारों को हटा कर, अपनी शुद्धि का विचार करें, सब को अपना भाई बन्धु मान कर उनकी यथाशक्ति सेवा और सहायता करते रहा करें।

मुसलमान—हिन्दुओं के विषय में इतना लिख चुकने पर अब हम मुसलमानों की धार्मिक जागृति का विचार करते हैं। मुसलमान जब भारतवर्ष में आये, उनमें धार्मिक जोश और सामाजिक एकता की भावना बहुत बढ़ी हुई थी। दूसरी ओर, हिन्दुओं में कई सामाजिक कुरीतियाँ, संकीर्णता और फूट होने से बहुत कमजोरी थी; जुदा जुदा जातियों में बड़ा भेद-भाव था। इसलिए, विशेषतया दलित जातियों के बहुत से हिन्दुओं ने कहीं भय या प्रलोभन से, तो अकसर मुसलमानों की उदारता से प्रभावित होकर इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया, और, वे अपने आपको हिन्दुओं से जुदा और उनके विरोधी समझने लगे। मुसलमानों के सूफ़ी फकीरों ने, और कबीर जैसे महात्माओं ने मुसलमानों की कट्टरता घटाने तथा उनका हिन्दुओं से विरोध-भाव हटाने का प्रयत्न किया। हिन्दू संस्कृति का भी मुसलमानों पर असर पड़ा। अकबर और जहाँगीर जैसे बादशाहों ने दोनों संस्कृतियों को मिलाने में अच्छा भाग लिया। खान-पान रहन-सहन आदि में मुसलमान हिन्दुओं के नजदीक आने लगे। सतरहवीं सदी से यहाँ योरपियनों की संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा, और अंगरेज़ों का राज्य बढ़ने के साथ साथ उनका भी प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। जिस प्रकार हिन्दुओं में स्वामी दयानन्दजी ने सुधार किया, कुछ-कुछ उसी प्रकार मुसलमानों में शिक्षा-प्रचार और सुधार करने का श्रेय खासकर सर सय्यद अहमदखाँ [सन् १८१७-९८] को है।

यहाँ के अधिकाँश मुसलमान अशिक्षित और कट्टर विचारों के तो थे ही, इस पर उन्हें कुछ अधिकारियों का इशारा मिला। वे हिन्दुओं की जागृति को आशंका की दृष्टि से देखने लगे। कुछ मुसलमानों ने अपनी जाति के नेता बन कर अपने भाइयों को नयी रोशनी से बचने, और हिन्दुओं से असहयोग करने को उकसाया। बस, कहीं मसजिदों के सामने हिन्दुओं का बाजा रोकने का प्रश्न उठा, कहीं गाय की कुर्बानी धूमधाम से की जाने लगी, कहीं द्वेष बढ़ानेवाली साम्प्रदायिक माँग होने लगी। हाँ, यह बात केवल शहरों के शिक्षित या स्वार्थी मुसलमानों के बारे में कही जा रही है; स्वतन्त्र और उदार विचार वालों ने तो इस प्रवाह को यथा-शक्ति रोकने का ही प्रयत्न किया; गाँवों में, और साधारण श्रेणी के मुसलमानों का, अकसर हिन्दुओं से अकसर बड़ा मेलजोल रहा है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव—भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन से मुसलमानों पर बड़ा हितकर प्रभाव पड़ा। उनकी हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति और सहयोग का भाव बढ़ा। सन् १९२१ में देखा गया कि सहृदय मुसलमान हिन्दुओं का जी दुखानेवाली कुर्बानियों से स्वयं परहेज करते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं। समझदार मुल्ला तथा मौलवी कुरान की 'आयतों' से जनसाधारण को देशोन्नति का उपदेश करते हैं, और उन्हें बैर-विरोध बढ़ाने वाले, तथा दूसरे अहितकर कार्यों से रोकते हैं। उन्हें शंख या झाँझ बजाने से नाराजी नहीं होती। हिन्दुओं का दशहरा और मुसलमानों के मोहर्रम साथ-साथ शान्ति-पूर्वक होने लगे। मसजिदों में हिन्दुओं का स्वागत और हिन्दू त्योहारों के अवसर पर मुसलमानों का सेवा-भाव देखा गया। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन शिथिल हो जाने पर कुछ उद्दण्ड

मुसलमानों ने जहाँ तहाँ फिर खतरनाक हालत पैदा करदी, और का पुर के श्री० गणेशशंकर जी विद्यार्थी जैसे नर-रत्नों का बलिदान हुआ। अफसोस है कि मुसलिम समाज ने इसकी निन्दा नहीं की। यह साफ जाहिर है कि साधारण मुसलमानों में धार्मिक जागृति, सहिष्णुता और समभाव स्थायी रूप से बहुत कम हुआ है। तथापि सुधारकों का इसदिशा में होनेवाला प्रयत्न सराहने योग्य है; हाँ, उन्हें अभी बहुत कार्य करना शेष है।

अन्य धर्मावलम्बियों में जागृति--जागृति का कार्य थोड़ा-बहुत यहाँ के सभी धर्मों के अनुयायियों में हुआ है। ईसाइयों और पारसियों में पहले से ही अन्ध-श्रद्धा वाली रूढ़ियाँ कुछ कम थीं, इसलिए इनमें परिवर्तन या सुधार भी कम हुए। विचारशील ईसाई धर्माधिकारियों ने यह अनुभव किया कि भारतवर्ष में ईसाइयों के जो अनेक भेद हैं, तथा उनमें प्रचलित धार्मिक प्रथाओं में जो अन्तर है, उन्हें दूर करके, सब का एक विशाल संगठन किया जाय। इस दिशा, में अच्छा प्रयत्न हुआ है, और उसमें खासी सफलता भी हुई है। फिर, पहले मिशन स्कूलों की स्थापना से धर्म-प्रचार की, अर्थात् दूसरे धर्म वालों को ईसाई बनाने की, बड़ी आशा की गयी थी, वह पूरी नहीं हुई। मिशन संस्थाओं में पढ़नेवाले अनेक विद्यार्थी तो ईसाई धर्म सम्बन्धी बातों की कड़ी आलोचना करने लगते हैं, यह देखकर नये मिशन स्कूलों आदि की स्थापना के सम्बन्ध में अब उत्साह बहुत कम हो चला है। अकसर पुरानी संस्थाएँ ही चलायी जा रही हैं, और उनमें धर्म-प्रचार के साथ शिक्षा-प्रचार का भी लक्ष्य रहता है। भारतवर्ष के अनेक स्थानों में सुयोग्य पादरी भाषण देते समय ईसाई धर्म सम्बन्धी बातों की, ऐसे ढंग से व्याख्या करते हैं कि बुद्धि या अक्ल आसानी से

मान लें। उन्हें इतनी चिन्ता अपने मतानुयाइयों की संख्या बढ़ाने की नहीं होती, जितनी इस बात की, कि दूसरे सज्जन ईसाई धर्म को वैज्ञानिक धर्म समझें, तथा ईसाई धर्म को माननेवाले अपने व्यवहार और सेवा से इस मत को दूसरों की नज़र में आकर्षक और ऊँचा बनायें। बहुत से स्थानों में मिशन अस्पताल सर्वसाधारण जनता की बड़ी सेवा कर रहे हैं। यही बात पारसियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनकी भी अनेक संस्थाएँ उनके दान-धर्म की घोषणा कररही हैं। जो हो, धार्मिक दासता के विरुद्ध चारों ओर आवाज़ बुलन्द हो रही है, विचार-स्वतंत्रता का युग है। यह बात थोड़ी-बहुत सभी धर्म वाले समझ गये हैं, और इसलिए अपने आचार विचार में परिवर्तन कर रहे हैं।

धार्मिक जीवन—इतनी जागृति होने पर भी, बीसवीं सदी का करीब आधा हिस्सा बीत जाने पर भी, कितने ही आदमी खासकर बाहरी दृष्टि से ही धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं; आन्तरिक सुधार की ओर काफी ध्यान नहीं देते। मिसाल के तौर पर अनेक आदमी सवेरे उठकर गङ्गा यमुना आदि में स्नान करते हैं, फिर रेशमी या ऊनी कपड़े पहिनते हैं, कई कई घंटे पूजा-पाठ या जप करते हैं; एक या अधिक मन्दिरों में भगवान का दर्शन किये बिना भोजन नहीं करते। ये भोजन में 'कच्ची-पक्की' रसोई का पूरा विचार रखते हैं, कच्ची रसोई केवल खास खास ब्राह्मणों के सिवाय और किसी के हाथ की नहीं जीमते; कपड़े उतार कर (केवल धोती पहिने), भोजन करते हैं; छुआछूत का परहेज़ करते हैं, चूल्हे चौके नियमों की पूरी पाबन्दी करते हैं, प्रति दिन कुछ गीता भागवतादि का पाठ या कथा सुनते हैं, समय-समय पर साधुओं और ब्राह्मणों को दान देते

रहते हैं, वर्ष छः महीने में तीर्थ-यात्रा भी करते रहते हैं। और, इस प्रकार के जितने भी बाहरी काम उनसे बन पड़ते हैं, उनके करने में सब तरह का कष्ट और व्यय सहन करते हैं। इनका बाहरी जीवन बड़ा निर्मल मालूम होता है। लेकिन इनका भीतरी जीवन, और दूसरे गरीब या कमजोर भाइयों से व्यवहार बहुत अच्छा नहीं होता; कभी कभी तो उसमें बहुत ही दोष होते हैं। ये परलोक की चिन्ता में अपने नागरिक कर्तव्यों को भूले रहते हैं।

ये बातें खासकर हिन्दुओं के सम्बन्ध में कही गयी हैं; वैसे कुछ कम-ज्यादह दूसरे धर्म वालों में भी मौजूद हैं। आवश्यकता है कि धर्म केवल कुछ बाहरी बातों में ही न समझा जाय। उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक ध्यान हमारे दिन रात के आपसी व्यवहारों, और मन या दिल की शुद्धि की ओर दिया जाना चाहिए।

धर्म का सच्चा स्वरूप—हिन्दू हों या मुसलमान, ईसाई हों या पारसी, सभी मनुष्य एक परम पिता की सन्तान हैं। हिन्दुओं का ईश्वर, मुसलमानों का खुदा, और ईसाइयों का 'गाड' अलग-अलग नहीं है। सब एक ही है। वही धनवानों का पिता है, वही गरीबों का; वही उच्च समझी जाने वाली श्रेणियों का है, वही नीच कही जाने वाली जातियों का। हमें ईश्वर तथा उसकी विश्व-व्यापी सन्तान के अलग-अलग टुकड़े नहीं करने चाहिएँ। हम चाहे जिस धर्म के अनुयायी हों, अपने मनुष्यत्व को न भूलें। भाईचारे के मूल मन्त्र को भली भांति अपने हृदय में धारण करें। निदान, हम अपने भाई बन्धुओं का कष्ट दूर करने को तैयार रहें और अपने देश की उन्नति करने के साथ, संसार के दूसरे पिछड़े हुए देशों की भलाई में लगे रहें। मनुष्यों को प्रेम करो, ईश्वर प्रसन्न होगा, नीचे गिरे हुओं को ऊपर उठाओ, दुखियों को गले

लगाओ, और उनका दुःख बटाओ; जनता की जान लगाकर सेवा करो, उनके लिए सर्वस्व अर्पण करो। यही सच्ची ईश्वर-पूजा है, यही सच्ची हरि-भक्ति है।

धर्म और देशोन्नति—यदि हम इन बातों पर अमल करें, तो हम अपने गाँव या नगर को कितना उन्नत कर सकते हैं, अपने देश को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाने में कितने सहायक हो सकते हैं! परन्तु खेद है कि हम अपने-अपने सम्प्रदाय की क्षुद्र या तुच्छ बातों में फँसे हुए हैं। यह हमारे धार्मिक पतन का सबूत है। हम अपने धर्म का इतना अभिमान करते हुए भी, देश के प्रति यथेष्ट कर्तव्य का पालन नहीं करते। जिस देश में काफी आदमी सच्चे धर्म को माननेवाले हों, वह किसी का दास या मोहताज कैसे रह सकता है! हम याद रखें कि गुलामों का कोई धर्म नहीं होता। यदि हम अपने धर्मका गौरव बढ़ाना चाहते हैं तो हमें अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र और सुखी करने में लग जाना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—हम सनातन धर्मी हैं तो क्या, आर्यसमाजी, ब्रह्मो, थियोसोफ़िस्ट, एवं हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई या मुसलमान हैं तो क्या; भारत-माता हम सब के लिए पूज्य है। हम आशा करते हैं और इस विश्वास में जीते हैं कि इस समय तक के सब धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम भारतीय धर्म का विकास होगा। भारत-माता के विशाल मन्दिर में हम सब इकट्ठे होंगे, वहाँ जननी जन्मभूमि की शुद्ध उदार हृदय से पूजा करेंगे, उसकी स्तुति-प्रार्थना करेंगे, उसके प्राचीन गौरव का पाठ पढ़ेंगे, वर्तमान आवश्यकताएँ पूरी करने का संकल्प करेंगे, उसके आशामयी भावी स्वरूप का चित्र

अपने हृदय में बनायेंगे और उस सुयोग्य माता के सुयोग्य पुत्र होने के लिए जी-जान से उद्योग करेंगे।* संसार खुशी खुशी देखेगा कि जिस भारत ने सृष्टि के आरम्भ में जगत को उपदेश दिया था, उसकी सन्तान फिर भी सहनशील, लोकोपकारी, आदर्श धर्म पर चलने वाली, और दूसरों को उसका रास्ता बताने वाली है।

तीसरा अध्याय

समाज

परमात्मा अपना ढङ्ग बदलता रहता है, जिससे ऐसा न हो कि एक अच्छी रीति रस्म पीछे जाकर संसार को बिगाड़ने वाली होजावे!

—टेनीसन

प्राक्कथन—समाज का उद्देश्य मनुष्यों की रक्षा और उन्नति करना है। उसका स्वरूप हमेशा ऐसा होना चाहिए कि वह अपने उद्देश्य को भली भांति पूरा करता रहे। समाज का व्यक्तियों पर जो अधिकार होना चाहिए, उसकी सीमा है। वह अधिकार वहाँ तक ही उचित है, जहाँ तक हमारा जीवन सामाजिक है, जहाँ तक हमारे कार्यों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज को हमारे निजी कार्यों या विचारों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं, और न उसे हम पर कोई ऐसा नियम या बन्धन ही लादना चाहिए, जो देश-काल को दृष्टि में रखते हुए, हमारे विकास में बाधक हो।

* इस विषय के विचारों के प्रचार में भारतीय ग्रन्थमाला की 'मातृबन्दना' पुस्तक से बहुत सहायता ली जा सकती है।

दूसरी संस्थाओं की तरह समाज में भी समय-समय पर सफ़ाई न होने से जङ्ग लग जाने का भय रहता है। जो समाज कठोर नियम-बंधनों से जकड़ दिया जाता है, वह निर्बल और निस्तेज बन जाता है। परिवर्तन या संस्कार सृष्टि का अटल नियम है। समय का तक़ाज़ा होने पर भी, सुधार न करने वाले आदमी बड़ी हानि उठाते हैं। आवश्यकता है कि हरेक देश में समय-समय पर सामाजिक जागृति होती रहे। सामाजिक नियमों में आवश्यक परिवर्तन होता रहे।

हिन्दू समाज—पुराने ज़माने में हिन्दू समाज इस सिद्धान्त पर अमल करता रहा। प्राचीन स्मृतिकारों, या शास्त्र बनाने वालों ने 'युग धर्म' (समाज के लिए देश-काल के अनुसार कर्तव्य पालन) की प्रणाली निश्चय की। इस से देश का सितारा चमकता रहा, और इसकी सुख समृद्धि बनी रही। पिछली सदियों में हमने इस अटल प्राकृतिक नियम की अवहेलना की, उससे समाज में घुन लग चला। छोटी-छोटी बालिकाओं का वध अथवा विवाह होने लगा, विधवाओं की संख्या भयंकर रूप से बढ़ती गयी, सती-प्रथा से जहाँ तहाँ हाहाकार मच गया, सामाजिक सिद्धाँन्तों का विचार न रहकर, अन्धविश्वास वाली रूढ़ियों का प्रचार होगया, अनेक आदमी दुराचारी, कपटी, मुफ़्तख़ोर और नशेबाज़ होते हुए भी चूल्हे-चौके या ब्राह्मण-भोजन सम्बन्धी कुछ बाहरी बातों का पालन कर लेने से समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे। और, दूसरे आदमी शुद्ध, सात्विक सयमी और परोपकारी जीवन बिताते हुए भी सर्वसाधारण की नज़र में पतित या नीच गिने जाने लगे। समाजिक जीवन से सचाई और ईमानदारी का मानो बहिष्कार, और आडम्बर या बनावटी बातों का स्वागत हो चला। भले आदमियों का निर्वाह कठिन होगया।

अहा ! कैसी शोचनीय स्थिति थी ! जो हो, अब हम यह विचार करें कि जागृति-काल में हिन्दुओं की सामाजिक हालत या प्रथाओं में क्या सुधार हुआ। पहले जाति-पाँति का ही प्रश्न लेते हैं।

जाति-पांति का भेद—प्राचीन काल में वेद शास्त्रों के अनुसार बहुत समय तक यहाँ चार जातियाँ रहीं, जो अपने-अपने कर्तव्य का नियम-पूर्वक पालन करके देश को सुखी और उन्नत रखती थीं। पीछे समय के फेर से वे हज़ारों छोटी छोटी जातियों में बट गईं। उनमें से कुछ इतनी छोटी हैं कि एक-एक में सौ-सौ आदमियों से भी कम हैं। बहुत से लोगों का खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि प्रायः अपनी-अपनी जाति में ही होता है। इस तरह, जन साधारण के विचार और कार्य का क्षेत्र बहुत तंग हो गया। ब्रह्म समाज ने इस दोष को दूर करने के वास्ते हरेक जाति के मनुष्यों के लिए, अपने उपासना-मन्दिर का दरवाजा खोल दिया; बिना किसी भेद भाव के सब को आपस में मिलने-जुलने का अवसर दिया। आर्य समाज ने वर्ण व्यवस्था को गुण-कर्म के अनुसार बतलाते हुए यह उपदेश दिया कि मनुस्मृति के आधार पर भी जन्म से सब लोग शूद्र होते हैं; बड़े होने पर जो जैसा आचार व्यवहार करता है, वह वैसी ही जाति का कहलाये जाने का अधिकारी है। थियोसोफी ने भी जाति-बन्धनों को शिथिल करने में बड़ा योग दिया है। उसने विश्वव्यापी भ्रातृ-भाव की घोषणा की, तथा खान पान सम्बन्धी मामलों में छुआछूत का विचार हटाया। इसी प्रकार जाति-पाँति तोड़क मंडल और अन्य सुधार-संस्थाओं के उद्योग से जाति-भेद धीरेधीरे घट रहा है।

नीच जातियों से सद्व्यवहार—जागृति-काल में हिन्दू समाज के उच्च वर्णों का ध्यान अपने कई करोड़ 'नीच' भाइयों के उद्धार की

ओर अवश्य ही जाता, पर इसके मुख्य कारण ईसाई और मुसलमान हैं। उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए सबसे अच्छा क्षेत्र हिन्दुओं की 'अछूत' तथा 'नीच' जातियों के लोगों को पाया। राम और कृष्ण के उपासक जब हज़रत ईसा और मोहम्मद की शरण में जाने लगे तो हिन्दू धर्माधिकारियों की आंखें खुलीं, और वे धीरे धीरे इन्हें अपनाने लगे। राजा राममोहनराय ने तर्क और युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया कि जन्म (जाति) के आधार पर 'ऊँच-नीच' का विचार करना अनुचित है, ब्रह्मज्ञान के कम या ज्यादह होने से ही श्रेणी-भेद माना जाना चाहिए। आर्य समाज पतितोद्धार और शुद्धि संस्कार का आन्दोलन करने लगा। उसे आरम्भ में कट्टर हिन्दू जनता का बड़ा विरोध सहना पड़ा, पर उसने धैर्य-पूर्वक अपना काम जारी रखा। आर्य-समाज और थियोसोफ़िकल सोसाइटी की संस्थाओं में हजारों अछूत बालक शिक्षा पाने लगे। राज्य की ओर से भी जहाँ-तहाँ इस कार्य में योग दिया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने तो इसे अद्भुत ही सहायता दी। महात्मा गान्धी ने इसे राष्ट्रीय महासभा के रचनात्मक कार्य में स्थान दिया। तब से अस्पृश्यता-निवारण का कार्य विशेष होने लगा। 'अछूतों' को बहुत सी जगहों में सार्वजनिक कुओं पर पानी भरने, और मन्दिरों में दर्शन करने का अधिकार मिला और वे अनेक संस्थाओं में, अन्य सज्जनों से हिल-मिल कर विविध कार्य करने लगे।

हरिजन आन्दोलन—आम तौर से दलित बन्धुओं के उद्धार की गति धीमी ही थी। महात्मा गान्धी को यह सहन न हुआ, आपने इस 'हरिजन कार्य' को अपने कार्य-क्रम का एक मुख्य अंग बना लिया। मताधिकार के सम्बन्ध में उन्हें हिन्दुओं से अलग न किये जाने के विषय में, आपने सितम्बर १९३२ में जो ऐतिहासिक

अनशन किया, उसकी चर्चा राजनैतिक जागृति के सम्बन्ध में की जायगी। उसी प्रसंग में बम्बई में २५ सितम्बर १९३२ को हिन्दुओं के प्रतिनिधियों की सभा हुई, उसके सभापति पं० मदनमोहन मालवीय थे। उसमें यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ कि अब से कोई भी आदमी, अपने जन्म से, अछूत नहीं समझा जायगा, और अब तक जो आदमी अछूत माना जाता था, उसके भी सार्वजनिक कुओं, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के व्यवहार के सम्बन्ध में वही अधिकार होंगे, जो दूसरे हिन्दुओं के हैं। अवसर मिलते ही इन अधिकारों के बारे में कानून बना दिया जायगा, और स्वराज्य-पार्लिमेंट के सबसे पहले किये जानेवाले कामों में यह भी एक काम होगा, यदि तब तक ये अधिकार क़ानून द्वारा स्वीकृत न हो चुके होंगे। उस सभा में यह भी निश्चय किया गया कि अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों की मन्दिर-प्रवेश-बन्दी आदि तमाम सामाजिक बाधाओं को शीघ्र हटाने के लिए, सभी उचित और शांतिमय उपायों का ग्रहण करना सब हिन्दू नेताओं का कर्तव्य होगा।

इसके बाद महात्मा गांधी हरिजन आन्दोलन की ओर पहले से भी अधिक ध्यान देते रहे, और सन् १९३३ ई० में जब आप फिर जेल में बन्दी किये गये तो आपने अन्य बातों की चिन्ता न करते हुए भी, हरिजन कार्य के लिए कुछ सुविधाएँ चाहीं, और वे सुविधाएँ न मिलने पर आपने कठोर अनशन आरम्भ किया। अन्त में जब सरकार ने आपको निर्धारित अवधि से पहले रिहा कर दिया, तो महात्मा जी हरिजन आन्दोलन में लग गये। आपने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में पहले रेल और मोटर आदि से, और पीछे पैदल ही दौरा किया; जगह-जगह लोगों की विराट् सभाओं में भाषण दे देकर उनकी,

हरिजनों के प्रति सहानुभूति बढ़ायी, तथा बहुत सा चन्दा इकट्ठा किया। आपने हर जगह हरिजनों की बस्ती देखने और उसमें सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से आवश्यक सुधार करवाने की ओर विशेष ध्यान दिया, साथ ही आपने हरिजनों को शराबखोरी और मुर्दार माँस खाने आदि से बचने का उपदेश किया और उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने और उन्हें शिल्प-शिक्षा दिलवाने का भी भरसक इन्तजाम कराया।

इन सब कार्यों को अच्छे ढँग से चलाने के लिए एक केन्द्रीय हरिजन सेवक संघ की स्थापना की गयी, जिसकी शाखाएँ और उपशाखाएँ जगह जगह काम कर रही हैं। अंगरेजी, हिन्दी, गुजराती, बंगला आदि में हरिजन सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित की जाती हैं। इनसे भी लोकमत सुधारने में बड़ी सहायता मिल रही है। सन् १९३५ ई० में नया शासन-विधान बना, और सन् १९३७ ई० से १९३९ तक आठ प्रान्तों में काँग्रेस का शासन रहा। इन प्राँतों में सरकार की ओर से हरिजनों की शिक्षा के लिए प्रयत्न किया गया। उनके लिए कितनी ही छात्रवृत्तियाँ निर्धारित की गयी, तथा उन्हें अन्य सुविधाएँ देने का भी ध्यान रखा गया। यद्यपि अब भी समय-समय पर कुछ कट्टर हिन्दुओं की ओर से उनके प्रति दुर्व्यवहार के उदाहरण मिलते हैं, धीरे धीरे परिस्थिति सुधर रही है।

कन्य-वध—अज्ञान के कारण हिन्दू माता-पिता को लड़कियों का जन्म बहुत दुखदायी होने लगा था। इसका एक कारण यह भी था कि प्रायः लड़की के विवाह में बहुत खर्च होता है तथा लड़की वाला वर पक्ष वालों से छोटा समझा जाता है। ऐसी स्थिति में अनेक आदमी अपनी सुकुमार बालिकाओं को इस लोक से बिदा करके

अपनी चिन्ता से मुक्ति पाने लगे। देश में समाज-सुधार शुरू हो जाने पर भी, कन्या-बध का रिवाज, खासकर उच्च घरानों में, बना ही रहा। अन्त में गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिंग (सन् १८२८-३५ ई०) के समय में यह क़ानून से बन्द किया गया। इस बात को सौ वर्ष से अधिक हो गये। तो भी कभी-कभी राजपूताने आदि में लुके-छिपे कन्या-बध होता ही है। सुधारकों को चाहिए कि जनता में कन्याओं के प्रति उदार भावना जागृत करने का ध्यान रखें। जिस प्रकार माता पिता अपने पुत्र को प्यार करते हैं, वैसे ही पुत्री से प्रेम करना चाहिए; जो रीति रस्में इसमें बाधक हों, उनका सुधार करना या उन्हें हटाना आवश्यक है।

कन्या-विक्रय—कुछ आदमी अपनी कन्या का विवाह करते समय, बर की आयु या योग्यता आदि का विचार न करके, उसे ऐसे घर में देना पसन्द करते हैं, जहाँ से उन्हें अधिक से अधिक धन मिल सके। इस प्रकार ये अपनी कन्या का बूढ़े, निर्बल, रोगी या बालक से विवाह करने में कुछ संकोच नहीं करते। कभी-कभी तो ऐसे पुरुष से विवाह कर दिया जाता है, जिसकी एक या अधिक पत्नी पहले से मौजूद होती हैं। इसका फल यह होता है कि लड़की का शेष जीवन बहुत दुख में बीतता है। जागृति-काल में लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ; हरेक जाति की सभाओं में इसकी निन्दा हुई। इससे, अब ऐसी घटनाएँ कम होती हैं, तो भी कभी कभी हो ही जाती हैं; अभी सुधार की कोशिश होती रहने की आवश्यकता है।

बर विक्रय—कुछ स्थानों में बर-विक्रय होता है; शिक्षित लड़के के लोभी माँ बाप लड़की वाले से बहुत धन मांगते हैं। और, लड़की

वाला वर की योग्यता का विचार करके, बहुधा अपना घर बेच कर या कर्ज़ लेकर भी उनकी इच्छा पूरी करता है। विचारशील लड़कियां इस प्रकार अपना घर बरबाद होते देखना सहन नहीं कर सकतीं, और इसे बचाने के लिए आत्म-हत्या कर डालती हैं। स्नेहलता आदि कई कन्याओं के आत्म-बलिदान ने समाज को इस ओर ध्यान देने लिए मजबूर किया है। अफ़सोस की बात है कि समझदार आदमी भी लोभ में फंस जाते हैं, यह बहुत अनुचित है।

सती-प्रथा—उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यहां अनेक विधवाएँ अपने पति के साथ ही चिता में जल जाया करती थीं। कुछ स्त्रियां अपनी इच्छा से भी सती होती थीं, पर ज्यादहतर स्त्रियां इस लिए सती होती थीं कि अपने कुटुम्बियों के कटु व्यवहार से हमेशा के लिए बच जायँ बात यह थी कि सती-प्रथा को कुलीनता का लक्षण माना गया था। विधवा स्त्री के सगे सम्बन्धी विधवा का जीवित रहना अपने घराने के लिए कलंक समझते थे, और, उसे जबरदस्ती सती होने के लिए मजबूर करते थे। अस्तु, एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो लोकाचार की उपेक्षा करता हुआ, शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह बात सबको, सर्वसाधारण एवं सरकार को, भली भांति दिखलादे कि यह प्रथा अनावश्यक है। राजा राममोहन राय ने अपने लेखों तथा पुस्तकों द्वारा यह कार्य बड़े परिश्रम से किया। अंत में सन १८२९ ई० में यह कुप्रथा कानून द्वारा बंद करदी गयी।

विधवाओं का प्रश्न—विधवाओं की दशा सुधारने के लिए, स्वर्गीय पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से लेकर अब तक कितने ही महानुभावों ने उनके पुनर्विवाह के प्रचार के लिए भारी प्रयत्न किया है। आधुनिक सहायकों में श्री गंगाराम जी का नाम विशेष उल्लेख

योग्य है। आपने सन् १६१४ ई० में विधवा विवाह सहायक सभा, लाहौर, की स्थापना की; और, सभा के ख़र्च के लिए लाखों की सम्पत्ति का दान किया। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों में इस सभा की शाखाएँ हैं। निःसन्देह ऐसी संस्थाओं में काम करने-वाले आदमियों को साधु-स्वभाव और पवित्र जीवन वाला होना चाहिए।

नर्म दल के कुछ सुधारकों का मत है कि केवल ऐसी ही बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह हो सके, जिनका अपने पति से समागम न हुआ हो। बहुत से सज्जन ऐसे हैं, जो विधवाओं को इन्द्रिय-संयम का उपदेश देते हुए उनके लिए शिक्षित होने, अपनी आजीविका प्राप्त करने, तथा समाज-सेवाओं में भाग लेने के योग्य होने की व्यवस्था चाहते हैं। विधवाओं का बिल्कुल न होने देना तो किसी के बश की बात नहीं; हाँ, उनके बढ़ने के खास कारण बाल-विवाहादि कुप्रथाएँ हैं, और उनको रोकने से ये बहुत कुछ कम हो जायँगी।

श्री हरविलासजी शारदा ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में यह प्रस्ताव पेश किया था कि जहा एक स्त्री का पति मृत्यु के समय संयुक्त परिवार का सदस्य हो, तो वह विधवा बटवारे का मुक़दमा दायर करसके। जहां स्त्री का पति मृत्यु के समय संयुक्त परिवार का सदस्य न हो, विधवा उसका कुल धन लेले। विधवा स्त्री को लड़का गोद लेने का अधिकार हो। यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ। अब डा० देशमुख का 'महिला उत्तराधिकार बिल', जनता के विचार के लिए उपस्थित है, जिसमें परिवार की जायदाद में से स्त्रियों को भी हिस्सा मिलने की व्यवस्था की गयी है।

बाल-विवाह—बाल विवाह भी अशान्ति और अज्ञान-काल में जन्मी हुई कुरीति है। उस समय कुमारी लड़कियों के, विधर्मियों द्वारा, धर्म-भ्रष्ट होने की आशंका रहती थी। शायद इसी लिए कुछ पंडितों

ने बाल-विवाह को शास्त्रों के अनुसार आवश्यक ठहरा दिया। पर समाज में जो रीतियां एक बार पड़ जाती हैं, वे जल्दी नहीं हटतीं। पहले ब्रह्म-समाज ने जनता का ध्यान इस ओर दिलाया, फिर आर्य समाज ने ब्रह्मचर्य पर ज़ोर देकर इस प्रथा को हटाना आरम्भ किया। वह स्थान-स्थान पर यह उपदेश कर रही है कि बाल-विवाह से मनुष्यों की शक्ति का ह्रास हो जाता है; कन्याओं का विवाह कम से कम १६ वर्ष में और कुमारों का २५ वर्ष में होना चाहिए। उसके गुरुकुल और कन्या-महाविद्यालय आदि विविध शिक्षा-संस्थाएँ, यह सुधार अमल में ला रही हैं। स्कूलों में केवल अविवाहित लड़के भरती करने के नियम से भी इस आन्दोलन में अच्छी सहायता मिल रही है। बड़ौदा आदि कुछ देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत में एक खास उम्र से कम में विवाह करना क़ानूनी अपराध ठहराया गया है।

ब्रिटिश भारत में बाल-विवाह निषेध क़ानून १ अप्रैल १९३० से जारी हुआ है। इसे साधारण बोलचाल में, इसके प्रस्तावक के नाम पर 'शारदा एक्ट' भी कहते हैं। इसके अनुसार अठारह वर्ष से कम आयु के लड़के, और चौदह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करना मना है। आरम्भ में कई वर्ष इस क़ानून से यथेष्ट लाभ नहीं हुआ; पीछे कुछ संशोधन किये गये। अब भी जहाँ तहाँ कुछ आदमी इस से बच निकलते हैं। हाँ, लोगों के विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है, और बाल-विवाह बहुत-कुछ बन्द होने की आशा है।

विवाह सम्बन्धी अन्य बातें—प्राचीन काल में यहाँ स्वयम्बर की प्रथा थी; उसमें आदर्श यह था कि स्त्री पुरुष एक दूसरे के गुणों को देख कर अपना 'जीवन का साथी' चुनें। पीछे यह बात सर्वथा भुला दी गयी। माता-पिता या संरक्षक ही बर बधू की जोड़ी मिलाने

लगे; वे चाहे जिस आयु की, चाहे जैसी कन्या का, चाहे जिस उम्र या स्वभाव वाले लड़के या बूढ़े के साथ गठजोड़ा करने लगे। हरेक लड़की का विवाह उसी की जाति बिरादरी के लड़के से, और केवल खास-खास मुहूर्तों में होने की रीति पड़ गयी। जाति-पांति और प्रान्तीयता आदि का विचार बढ़ने से अनेक दशाओं में बर वधू का चुनाव बहुत ही परिमित क्षेत्र में होने लगा।

जागृति-काल में इन बातों की हानियों पर क्रमशः विचार हुआ। अब बर वधू एक दूसरे के चुनाव में माता पिता या संरक्षकों के मत का विचार करते हुए उसमें स्वयं अपनी सम्मति का भी उपयोग करने लगे हैं। चुनाव का क्षेत्र भी धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। यद्यपि अभी तक एक उपजाति या बिरादरी के लड़के लड़की का विवाह प्रायः उसी उपजाति के अन्दर होता है, तथापि एक जाति या वर्ण के युवक का विवाह उस जाति या वर्ण भर की किसी भी युवती के साथ होने में अब पहले की सी बाधा नहीं रही है। अन्तर्जातीय विवाह के भी उदाहरण मिलते जा रहे हैं। इसी प्रकार, अन्तर्प्रान्तीय विवाहों को भी अच्छा समर्थन मिल रहा है। कुछ सज्जन राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक मेल की दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम तथा पारसी-मुस्लिम आदि विवाहों का भी प्रचार करते हैं। युवक युवतियों में स्वतंत्रता का भाव अब अधिक होने से इस प्रकार के विवाहों की क्रमशः वृद्धि हो रही है।

इन विवाहों के होने में जो क़ानूनी बाधाएँ थीं, उन्हें धीरे धीरे दूर किया गया। सन् १८७२ ई० में 'स्पेशल मेरिज एक्ट' (विशेष विवाह क़ानून) बना; उसके द्वारा उन मनुष्यों के विवाह-सम्बन्ध को क़ानून की दृष्टि से ठीक माना जाने लगा, जो ईसाई, यहूदी, हिन्दू, मुसलमान,

पारसी, सिख, या जैन किसी भी धर्म से सम्बन्ध नहीं रखते। जायदाद के बटवारे अथवा विरासत आदि के मामले में इस क़ानून से लाभ उठानेवालों के लिए यह आवश्यक था कि वे इन धर्मों का अनुयायी होने से इनकार कर दें। अब तो क़ानून में ऐसा परिवर्तन हो गया है कि दोनों सम्बन्धित पक्षों की स्वीकृति पर, सब प्रकार के विवाह जायज़ माने जायँ। इनमें वे विवाह भी आ गये जो इन धर्मों के संस्कार-विधि के अनुसार हों। हाँ, ऐसे क़ानून का बहुत उपयोग नहीं हो रहा है।

महिलाओं में सुधार—जागृति होने से पहले यहाँ महिलाओं की हालत बहुत शोचनीय थी। प्राय: उन्हें पढ़ने का अधिकार न था। वे पर्दे और बाल-विवाह की कुप्रथाओं से अलग कष्ट पा रही थीं। इसके अलावा वे लोभी माता पिताओं के लिए नफ़े से बेचने की चीज़, अन्ध विश्वासी 'धार्मिक' लोगों के लिए दान देने की चीज़, विलास-प्रिय लोगों के लिए भोग विलास की चीज़, और अत्याचरियों के लिए बेज़बान तथा विरोध न करने वाली बन रहीं थीं। अब उनकी दशा में सुधार रहा है। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा थियोसोफ़ीकल सोसाइटी द्वारा संस्थापित संस्थाओं से कई स्थानों में स्त्री-शिक्षा का विराट आयोजन हो रहा है। और, इनके अग्रगामी होने से जनसाधारण तथा सरकार भी इस विषय की ओर ध्यान देने लगी है।

क्रमश: स्त्रियों में अधिकाधिक स्वाधीनता आ रही है। कुछ वर्ष पहले की बात है। देहली में एक ४५ साल के वर की बरात आयी थी। शादी एक १५ साल की लड़की से होने वाली थी। सब तैयारी हो चुकी थी। पर, सुधारकों की प्रेरणा से, फेरे होते समय लड़की ने हाथ जोड़कर वर से कह दिया कि 'श्रीमान्! आप तो मेरे पिता के

बराबर हैं।' इतना कहना था कि वर महाशय शर्मिंदा होकर वहाँ से चलते बने। लड़की की शादी बनारस के एक युवक से हो गयी, जिसके सम्बन्ध में पहले से विचार कर लिया गया था। लड़की के अपूर्व साहस से उसका तो उद्धार हुआ ही, दूसरी बहिनों को भी समाज सुधार का एक रास्ता मालूम हो गया।

शिक्षित और योग्य स्त्रियाँ अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने तथा उचित अधिकारों को पाने का उद्योग करने लगी हैं। अब उनकी जागृति का काम आसान और जल्दी होगा। मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे इस महान कार्य में उनकी मदद करें। हाँ; इस प्रसंग में, यह कह देना अनुचित न होगा कि महिलाओं को, और उनके हितैषी पुरुषों को, यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उन्नति की दौड़ में, हमारी बहिनें मर्यादा को भंग न करें। कहीं-कहीं शिक्षित स्त्रियों का रहन-सहन बहुत आडम्बर वाला और खर्चीला हो गया है, घर-गृहस्थी का काम और बच्चों का पालन-पोषण उन्हें भार प्रतीत होता है। याद रहे कि इस बात की ज़रूरत कुछ कम नहीं है कि वे भावी नागरिकों को सुयोग्य बनानेवाली हों। कौन नहीं जानता कि सन्तान को गुण-वान बनाना बहुत कुछ माताओं पर निर्भर है।

स्त्रियों की आधुनिक उन्नति में महिला-संघ और महिला कान्फ्रेन्स आदि संस्थाओं का बड़ा हाथ रहा है। अखिल भारतीय महिला संघ सन् १९१७ में क़ायम हुआ। सन् १९१६ में यहाँ होमरूल आन्दोलन जोरों पर था, उसकी संचालिका श्रीमति एनीबिसेन्ट की नज़रबन्दी पर सारे महिला समाज में हलचल मच गयी, जगह-जगह स्त्रियों की बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं और इस तरह उनका संगठन बढ़ने लगा। महिला संघ अपने जन्म के समय से ही भारतीय महिलाओं के लिए शिक्षा, समाज सुधार, और राजनैतिक प्रगति का काम कर रहा है। इसकी शाखाएँ देश भर में फैली हुई हैं। इसके ही द्वारा

सन १६२७ में अखिल भारतीय महिला कान्फ्रेन्स का जन्म हुआ। यह कान्फ्रेन्स महिलाओं की एक बहुत प्रभावशाली अखिल भारतीय संस्था है। इसके अधिवेशन समय-समय पर होते रहे हैं, और उनसे महिलाओं की जागृति को बड़ी मदद मिली है। सामाजिक सुधार में इस संस्था ने बाल विवाह का निषेध किया, और बहु-विवाह के खिलाफ आन्दोलन चलाया। इसने वेश्या-वृत्ति को हटाने की ओर भी ध्यान दिया। अस्पृश्यता-निवारण में इसने भरसक योग दिया। यह संस्था साम्प्रदायिकता और दलबन्दी से दूर रह कर सब भारतीय महिलाओं की एकता और संगठन की कोशिश करती रही। इसने कल-कारखानों और खानों में काम करने वाली महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के उपाय किये और हिन्दू महिलाओं की सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए व्यवस्थापक सभाओं को कई सामाजिक कानून बनाने की प्रेरणा की।

अब तो योग्य स्त्रियों को म्युनिसिपेलटियों और कौंसिलों के मेम्बर चुनने और खुद मेम्बर बनने तक का अधिकार हो गया है। वे मंत्री के पद पर अच्छा काम कर चुकी हैं। उन्हें स्त्री समाजकी उन्नति करने के अवसर मिलते रहे हैं। तो भी अभी अधिकांश महिलाओं की दशा अच्छी नहीं है; सुधार की बहुत जरूरत है।

समुद्र-यात्रा—प्राचीन काल में भारतवासी व्यापार आदि के लिए विदेशों को बराबर जाते थे और उन्हें इसमें कोई सामाजिक रुकावट न थी; पर अठारहवीं सदी में, और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में भी यहाँ समुद्र-यात्रा का, जनता में बड़ा विरोध होता था। विदेश जाने वालों को यहाँ लौटने पर ब्रह्म भोज (ब्राह्मणों को जिमाना), और तीर्थ-यात्रा करने तथा सामाजिक दंड (जुर्माना) देने आदि के रूप में प्रायश्चित करना होता था; नहीं तो वे जाति-बाहर कर दिये जाते थे। अब सुधारकों की कोशिश और नये विचारों के कारण विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में लोगों को ऐसी बाधा नहीं रही। यद्यपि

अब भी कुछ आदमियों के पुराने विचार बने हुए है, उन्नत देशों की रहनसहन का अनुभव करने, शिक्षा पाने, व्यापार करने, और खासकर इंगलैण्ड और अमरीका में भारतीय शासन सुधार का आन्दोलन करने के लिए अनेक प्रतिष्ठित सज्जन, तथा महिलाएँ विदेश-यात्रा करती हैं। कुछ शौकीन राजा-महाराजा आमोद प्रमोद के लिए भी विदेश जाते हैं। कई देशों में भारतीयों के लिए आश्रम बनाये गये हैं, इससे वहाँ जाकर रहने वालों को अब अधिक सुभीता हो गया है।

फ़िज़ूलख़र्ची—हमने कुछ प्रधान आन्दोलनों का उल्लेख किया है, सामाजिक प्रश्न और भी बहुत से शेष हैं। साधारण लोगों के लिए वेश्या-नृत्य और अश्लील गाने बन्द करना, विवाह-शादियों, या जन्म मृत्यु सम्बन्धी संस्कारों में फ़िज़ूलखर्ची रोकना ही बड़े भारी सुधार-कार्य बने हुए हैं। यहाँ फ़िजूलखर्ची के प्रश्न पर विचार किया जाता है। घी और मिठाई के अनाप-शनाप खर्च से ये चीज़ें बेहद मंहगी होती जा रही हैं। इसके अलावा इनमें ऐसे पदार्थों की मिलावट भी हो चली है, जो हमारे स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक है। फिर, बालकों और विशेषतया लड़कियों के माता पिता उनके विवाह के खर्च के वास्ते रुपये जमा करने के लिए उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे जरूरी कामों में कञ्जूसी करते हैं। कितने ही आदमी विवाहों के ठाठ की ही बदौलत ऐसे क़र्ज़दार हो बैठते हैं कि जन्मभर उनका उद्धार नहीं होता।

इन बातों से बचने का प्रधान उपाय आत्म-बल है। यदि भाई-बिरादरी के अनुचित दबाव में न आकर, हम उतना ही खर्च करने लगें, जितना कि हम आसानी से कर सकते हैं, तो बहुत से बुरे नतीजों से बचे रह सकते हैं। हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि जन्म मृत्यु और विवाह-शादी रोज़मर्रह की साधारण घटनाएँ है।

इन अवसरों पर, आडम्बर और शान दिखाने के लिए हमें अपनी शक्ति, समय और द्रव्य का अपव्यय न करना चाहिए। हर्ष की बात है कि अब इस विषय के अच्छे-अच्छे उदाहरण मिलने लगे हैं, जो भाई इनमें साहस-पूर्वक मितव्ययिता का परिचय देते हैं, अथवा इन मौकों पर शिक्षा, स्वास्थ्यादि लोकोपयोगी कार्यों में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं, वे धन्य हैं। अस्तु, आत्मबल की वृद्धि, आर्थिक विचार, और शिक्षाप्रचार की उन्नति आदि से समाज-सुधार कार्यों में बड़ी सहायता मिलने की आशा है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली—आधुनिक काल में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली पर नये ढंग से विचार होने लगा है। इसका आधार त्याग और पारस्परिक सहयोग था। यह आदर्श बहुत लाभकारी रहा है। इससे परिवार के अनाथ व्यक्तियों की रक्षा तथा शिक्षा में बहुत सुविधा मिलती है, तथा बीमारी या बुढ़ापे में कोई आदमी निराश्रय और असहाय नहीं होता। तथापि, अब इस युग में यह अनुभव किया जा रहा है कि इस प्रणाली से लोगों में स्वावलम्बन, साहस और विचार-स्वतंत्रता का काफी विकास नहीं होता। इसलिए यह प्रणाली टूट रही है। कुछ सज्जन चाहते हैं कि इस प्रणाली को बनाये रखते हुए भी स्वावलम्बन आदि का अभाव न होने पावे। इस प्रणाली में गुण दोष दोनों ही है, परन्तु आधुनिक नययुवकों का विचार-प्रवाह इसके विरुद्ध ही बढ़ता जा रहा है।

शास्त्रों का विचार—हिन्दू समाज की निर्बलता के निशान अब भी पद-पद पर नज़र आते हैं। इसका कारण यही है कि बहुत सी बातों में जब कोई सामाजिक विषय उपस्थित होता है, तो अकसर जनता यह न सोचकर कि यह देश-काल की दृष्टि से कितना उपयोगी

है, इस बात पर अटक जाती है कि शास्त्रों की इस विषय में क्या आज्ञा है। हम याद रखें कि यदि किसी शास्त्र का कोई नियम प्राचीन काल की किसी विशेष स्थिति के लिए बहुत उत्तम था तो यह आवश्यक नहीं है कि अब भी उसका ठीक उसी प्रकार पालन किया जाना उपयोगी है। यह कैसे सम्भव है कि प्रत्येक स्मृतिकार भविष्य में आने वाली हर एक स्थिति के लिए यथेष्ट नियम बना सके! इसलिए हमारे समय में जो नवीन समस्याएँ उपस्थित हुई हैं; उनके हल करने के लिए शास्त्रों की आज्ञा की छानबीन करना ठीक नहीं। हमारे पूर्वजों ने बड़ी योग्यता से अपने समय की समस्याओं की मीमांसा की। अब वर्तमान समय हमारा है; और, देश-काल के अनुसार हमें अपनी नवीन परिस्थिति के लिए उचित नियम बनाने होंगे। यह तर्क अच्छा नहीं कि अमुक रीति हमारे बाप दादा ने बर्ती थी, इसलिए हमें भी उसका पालन करना चाहिए।

प्रस्तावित हिन्दू कोड—इस समय राव कमेटी प्रस्तावित हिन्दू कोड या विधान के सम्बन्ध में, देश में जगह-जगह गवाही लेरही है। इस कोड का लक्ष्य यह है कि ब्रिटिश भारत में रहनेवाले सारे हिन्दुओं के लिए सामाजिक नियम एक ही तरह के हों, और जो पुराने नियम अब ज़रूरी या उपयोगी नहीं रहे हैं, उनमें सुधार कर दिया जाय। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोड में कहा गया है कि पिता की सम्पत्ति में कन्या को भी पुत्र की तरह अधिकार मिलना चाहिए; हाँ कन्या को पुत्र का आधा हिस्सा मिले। स्त्री को, उत्तराधिकार में मिली हुई सम्पत्ति पर पूरा अधिकार रहे; यानी वह उसी तरह दान कर सके या बेच सके जिस तरह कि पुरुष। कमेटी ने सगोत्र विवाह और असवर्ण विवाह में, जो शास्त्रीय बाधाएँ हैं, उन्हें हटाकर इस तरह के विवाहों को भी वैध या जायज़ ठहराने का प्रस्ताव किया है। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि पूर्व विवाहित पत्नि या पति के रहते पुरुष या स्त्री दूसरा विवाह

नहीं कर सकती। एक प्रस्ताव में वे कारण बताये गये हैं जिनके आधार पर पति या पत्नि के आवेदन पर अदालतें अपने फैसले की तारीख से वैध विवाह के भंग होजाने की घोषणा कर सकती है। पति या पत्नि को असाध्य रोग या कोढ़ की बीमारी होने पर, दोनों में से किसी के दूसरा धर्म ग्रहण करने पर, दोनों में से यदि कोई बिना कारण एक दूसरे को सात वर्ष तक छोड़ दे, तथा पति यदि किसी स्त्री को रखेली के रूप में ग्रहण करले, या स्त्री वेश्या का जीवन बिताने लगे तो पति या पत्नि को विवाह-विच्छेद के लिए मामला दायर करने का अधिकार होगा। इस प्रस्तावित कोड की अलग-अलग धाराओं की खूब आलोचनाएँ हो रही हैं, और समाज में कोड के सम्बन्ध में बड़ा आन्दोलन हो रहा है। कोड का उद्देश्य बहुत अच्छा होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। लोगों को इसकी ब्योरेवार बातों पर देश-काल का ध्यान रखते हुए गम्भीरता और उदारता से विचार करना चाहिए।

हिन्दुओं के बारे में इतना लिख कर अब हम दूसरे समाजों की जागृति का विचार करते हैं।

मुसलमानों में सामाजिक जागृति—मुसलमानों में जाति-पांति का विशेष भेद नहीं है; बराबरी, भाईचारे और एकता का भाव इनमें बहुत है, इनके रस्म रिवाज भी सरल हैं, ज्यादह फ़िज़ूल-ख़र्ची नहीं होती। तो भी कुछ सामाजिक सुधारों की ज़रूरत थी। इनके रहनसहन में कृत्रिमता या दिखावट बहुत है। मुसलिम स्त्रियाँ बहुत समय से पर्दे में रहती आयी हैं, इससे इनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। शिक्षा में तो स्त्रियाँ क्या, पुरुष भी बहुत पिछड़े हुए थे, इसलिए इनमें सुधार होना और भी कठिन था।

इनकी जागृति में, अन्यान्य सज्जनों में सर सय्यद अहमदखां का अच्छा भाग रहा है। आपने इनकी विचार-संकीर्णता हटाने के लिए इनकी सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध खूब आन्दोलन किया। आपने इसी उद्देश्य से 'तहज़ीबुल इख़लाक' नाम का एक

सुधारक मासिक पत्र भी निकाला। मुसलमान समाज को पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का परिचय कराने के लिए आपने शिक्षा-प्रचार का जो महान कार्य किया, उसका उल्लेख आगे प्रसंगानुसार किया जायगा। उसके फल-स्वरूप मुसलमानों में अज्ञान की कमी होती गयी। अब स्त्रियों में पर्दे का बन्धन पहले की अपेक्षा शिथिल है, उनमें शिक्षा का प्रचार रहा है, और कुछ ने तो अंग्रेज़ी शिक्षा का स्वागत कर लिया है। मुसलमान स्त्रियां स्वयं भी अपनी दशा उन्नत करने के लिए जहाँ तहाँ सभा सोसाइटियां करके तथा दूसरे उपायों द्वारा अपने वर्ग में जागृति का आन्दोलन कर रही हैं। तथापि अभी गति मन्द है, और पुराने विचार वालों की प्रधानता है।

अन्य जातियों में प्रकाश—हिन्दू और मुसलमानों के अतिरिक्त, जागृति का प्रकाश भारतवर्ष के दूसरे समाजों में भी हुआ है। ईसाइयों में, यद्यपि बहुतों के सामाजिक व्यवहार अपने पूर्वज हिन्दुओं के समान ही हैं, परन्तु ये अंधकार-काल में घुसी हुई हानिकर रीति रस्मों को त्याग रहे हैं, तथा सफाई और शिक्षा के विषय में अपनी श्रेणी के हिन्दुओं से आगे बढ़ रहे हैं। पारसी भी अपनी रहनसहन, शिक्षा, सफ़ाई आदि में यहां के प्रवासी योरपियन लोगों से अच्छी टक्कर लेते हैं; ये देशकाल की गति को परख कर उसके अनुसार उन्नति करने में बहुत बढ़े हुए हैं।

अब हम कुछ ऐसे सामाजिक विषयों का विचार करते हैं, जिनका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध सभी जातियों या धर्म वालों से है।

सन्तान-निग्रह—आज कल बहुत से आदमियों के सामने यह विचार रहता है कि सन्तान बहुत ज्यादा न हो। कुछ लोग तो ऐसा विचार आर्थिक दृष्टि से करते हैं। वे सोचते हैं कि अधिक बच्चों के

होने से उनके पालन-पोषण, शिक्षा और स्वास्थादिकी व्यवस्था अच्छी तरह नहीं हो सकती,इस लिए सन्तान कम होनी चाहिए। कुछ आदमी यह भी सोचते हैं कि पराधीनता की अवस्था में अधिक सन्तान पैदा करना गुलामों की संख्या बढ़ाना है। कुछ आदमी सात्विक विचारों के कारण ही संयमी जीवन बिताना चाहते हैं। कुछ आदमी इस विचार से, सन्तान की वृद्धि नहीं चाहते कि इससे उनके सुख, स्वच्छन्दता आदि में वाधा होगी, उन्हें बालकों के लिए कुछ त्याग करना पड़ेगा। अब से कुछ समय पहले तक सन्तान बहुत न बढ़ने देने का एक ही उपाय समझा जाता था—इन्द्रिय-निग्रह, यानी अपनी काम-वासना को वश में रखना। लेकिन इस जमाने में कृत्रिम साधनों के उपयोग का विचार बढ़ता जा रहा है। इसके विषय में लोगों को बड़ी आशंका है। जनता की वृद्धि बहुत अधिक न होने देने के लिए हम स्त्री पुरुषों का संयमी जीवन बिताना ही उचित समझते हैं।

खानपान और रहनसहन—आजकल स्वास्थ्य-सुधार की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है,और स्वास्थ्यके साधन भी बढ़ते जारहे हैं। यह होते हुए भी भारतवासियों का स्वास्थ्य तथा औसत उम्र सन्तोषप्रद नहीं है। रोगियों की संख्या भयंकर है, मृत्यु-संख्या भी चिन्तनीय है। साधारण स्वस्थ दिखायी देनेवाले युवकों और युवतियों का भी कमजोर होना खेदजनक है। इसका एक मुख्य कारण जनसाधारण की गरीबी है। इसके अलावा आजकल विलासिता शौकीनी, बाहरी दिखावा और आरामतलबी बढ़ रही है। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से ज्यादहतर आदमी अपने खाने कपड़े या रहन-सहन में उसकी उपयोगिता का इतना विचार नहीं करते, जितना वे यह सोचते हैं कि समाज में दूसरे आदमियों की नजरों में यह कैसा रहेगा। हम जीभ के

स्वाद के लिए खट्टी, मीठी, चटपटी चीजें खाते हैं जो हमारे शरीर को नुकसान पहुंचाती हैं; कपड़ा भी महीन, मुलायम, बढ़िया, चटकीला-भड़कीला पहनते हैं।

नशीली चीजों का इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। पहले आदमी हुक्का पीया करते थे; तब ज्यादहतर बड़े बूढ़े ही तमाखू का सेवन करते थे. वे भी सिर्फ घर या दूकान आदि पर। अब बीड़ी सिग्रेट हर दम आदमियों की जेब में बने रहते हैं; रास्ते चलते, अखबार पढ़ते, लेख लिखते, या मेहनत मज़दूरी करते, जब चाहे इनका सेवन हो सकता है। अनेक छोटे-छोटे लड़के भी एक-एक दिन में कई-कई बीड़ियां फूँक देते हैं; (साथ में दियासलाई का खर्च रहा सो अलग)। अब शराब की बात लीजिए। पहले, हिन्दू भी, और मुसलमान भी इससे सख्त परहेज़ करते थे। पर, अब स्वतंत्रता का नहीं, कुछ हद तक स्वच्छन्दता का भी युग है, आदमी धार्मिक आदेशों का कठोर बन्धन मानने को उतने तैयार नहीं हैं। योरप वालों के संसर्ग का हमारे समाज पर, एक असर यह पड़ा कि यहाँ शराब की खपत बहुत बढ़ चली है। कांग्रेस के शासन-काल (सन् १९३७-३९) को छोड़कर प्रान्तीय सरकारों ने इसे रोकने की खास कोशिश नहीं की। इधर, हमारे देखते-देखते चाय का भी प्रचार बहुत बढ़ गया है। बहुत से जानकारों का मत है, कि चाय मनुष्य की शक्ति उसी प्रकार बढ़ाती है, जैसे, दुर्बल घोड़े की शक्ति को हंटर या चाबुक। इसलिए इसके प्रचार को रोकने की बहुत आवश्यकता है। हमारा खान-पान और रहनसहन सादा, और स्वास्थ्य बढ़ानेवाला होना चाहिए।

भारतीय समाज की कमज़ोर कड़ी—किसी भी विचारशील आदमी को यह बात अजीब और दुखदायी मालूम होगी कि भारतीय

जनता के इतने विशाल होते हुए भी, यह देश संसार में ऐसा गया-बीता है। बात यह है कि भारतीय समाज की विविध कड़ियों में से कई-एक बहुत ही कमज़ोर हैं। अछूतों (हरिजनों) और भिखारियों के बारे में पहले कहा जा चुका है। इनके अलावा अब से कुछ वर्ष पहले तक, महिलाएं सार्वजनिक जीवन से दूर, और बहुत-कुछ पुरुषों पर भार थीं। 'जरायमपेशा' और वेश्याओं की ओर तो अभी तक भी विशेष ध्यान नहीं गया है।

यह तो ठीक है, कि किसी-किसी जाति में अपराध करनेवाले आदमी कुछ ज्यादा होते हैं। परन्तु इसलिए उस जाति को 'जरायम पेशा' क़रार देना या घोषित करना सर्वथा अनुचित है। लोगों का अपराधी होना, बहुत-कुछ उनकी परिस्थिति पर निर्भर है, और, सामाजिक वातावरण का उन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस विषय में हमने विस्तार-पूर्वक अपनी 'अपराध-चिकित्सा' पुस्तक में लिखा है। यहाँ, यही कहना है कि यदि अपराधियों के साथ कठोरता का व्यवहार न करके, उनके सुधार का प्रयत्न किया जाय तो इसमें बहुत सफलता मिल सकती है। कई स्थानों पर किये गये प्रयोगों के अनुभव से, यह सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू भी अच्छी परिस्थिति मिलने पर प्रायः भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं।

अब वेश्याओं की बात। उनसे घृणा करके या उनकी उपेक्षा करके ही जागृत समाज उनकी ओर निश्चिन्त नहीं रह सकता। इनके विषय में कुछ विस्तार-पूर्वक विचार हमारी 'विश्व वेदना' पुस्तक में किया गया है। पतित बहनों में से, अधिकांश अपना धंधा, आर्थिक या सामाजिक मजबूरी से करती हैं। यदि उनके योग्य, आजीविका के माग निकाले जायँ,तो इनमें से बहुत-सी अपनी सेवा और योग्यता से

देश का बड़ा हित कर सकती हैं। कितनी ही वेश्याएं गृहस्थ-जीवन बिताना चाहती हैं। ज़रूरत है कि ऐसे आदमी काफी संख्या में मिलें, जो इनसे विवाह-सम्बन्ध करें, चाहे इसके लिए उन्हें कुछ लोक-निन्दा ही सहनी पड़े। गत वर्षों में ऐसे कुछ उदाहरण मिले हैं, उनके बढ़ने की बहुत आवश्यकता है। वेश्याओं में से, जो अपने पतित व्यवसाय को छोड़ चुकी है, और गृहस्थ जीवन में भी आना नहीं चाहतीं, वे स्वयं सेविकाएँ बन कर आगे बढ़ें और अपनी अन्य वेश्या बहिनों को सुमार्ग पर लाने में प्रयत्नशील हों।

समाज-सुधार और सरकारी सहयोग समाज-सुधार के सम्बन्ध में सरकारी सहयोग कहां तक उपयोगी है? बहुत से आदमी चाहते हैं कि प्रत्येक सुधार के वास्ते सरकारी कानून बन जाना चाहिए। हम साफ कह देते हैं कि ऐसी परावलम्बी भावना ठीक नहीं। कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं, जो सरकारी क़ानून के द्वारा ही अच्छी तरह अमल में आ सकती हैं, परन्तु ये बातें बहुत थोड़ी हैं। समाज-सुधार का अधिकांश कार्य हमारे ही करने का है, उसके लिए कौंसिल के प्रस्तावों की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है, लोकमत तैयार करने की। उसके बिना, सरकार भी समाज-सुधारमें सफल नहीं होती।

लोकमत तैयार करने का महत्व-पूर्ण कार्य नेताओं का है। सच्चे नेता, अपने कष्टों के लिए किसी पुरस्कार या प्रशंसा आदि की आशा नहीं रखते। वे दृढ़ता-पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, और उसमें जो बाधाएँ आती हैं, उनका खुशीसे स्वागत करते हैं। केवल टीप-टाप रखने वाले, शान से रहनेवाले, समय-समय पर व्याख्यान झाड़ने वाले, काग़ज़ी घोड़े दौड़ानेवाले या बाहरी ढोंग रचनेवाले, परन्तु परीक्षा के अवसर पर पीठ दिखानेवाले नेताओं से परमात्मा प्रत्येक

समाज की रक्षा करे। ये लोग जन साधारण की, सुधार-कार्यों से, श्रद्धा हटा देते हैं। इनका बढ़ना देश के लिए बहुत हानिकर है। इसके विपरीत, मुट्ठीभर सुधारक आत्माएँ अपने उदाहरण से और लोकमत तैयार करके समाज का अच्छी तरह संस्कार कर सकती है।

सेवा-भाव—हर्ष का विषय है कि देश में स्वयंसेवकों की तथा सेवा-भाव से काम करने वाले अन्य सज्जनों की क्रमशः वृद्धि होती जा रही है। दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी तथा मेले-तमाशों के अवसर पर सेवा-समितियां और बालचर (स्काउट्)दल महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। कितने ही अवसरों पर स्वयं अपनी जान जोखम में डालकर दूसरों को संकट से बचाने,लावारिस मुर्दों को उठाने और उनका यथेष्ट संस्कार करने में इन्होंने अपनी उदारता का अच्छा परिचय दिया है। जैसे बने, जहां बने, सेवा करना इनका उद्देश्य है। ये हिन्दू मुसलमान, छूत अछूत, स्त्री पुरुष, ऊँच नीच या अपने पराये का भेद नहीं जानते; जाति विशेष और प्रान्त विशेष का पक्ष नहीं करते; इनका सेवा कार्य हर जगह होता है और सामाजिक जागृति में बड़ी मदद देता है।*

राष्ट्रीय आन्दोलन और समाज-सुधार—राष्ट्रीय आन्दोलन में सभी जातियों या धर्मों वाले मिलजुल कर काम करते हैं।

---

* सेवा समितियों और बालचरों के अलावा, देश में जगह जगह कई दूसरी संस्थाएँ भी जनता की सेवा और सहायता करने का कार्य कर रही हैं—जैसे भारत सेवक समिति (सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी) पूना; समाज सेवा संघ (सोशल सर्विस लीग), बम्बई; जीवदया संघ, बम्बई; दक्षिण शिक्षा समिति (डेकन एज्यूकेशन सोसायटी, पूना; लोक सेवक समिति (सर्वेंटस आफ दि पीपल्स सोसायटी) लाहौर; अखिल भारतवर्षीय ग्रामोद्योग संघ, और चर्खा संघ, वर्धा; आदि।

महिलाएँ भी इसमें पर्याप्त योग देती हैं। इससे स्पष्ट है कि इसका प्रभाव किसी संकीर्ण क्षेत्र में परिमित न रहकर सभी श्रेणियों के आदमियों पर पड़ता है। आन्दोलन में भाग लेनेवालों को त्याग करने, कष्ट सहने, सादगी का रहनसहन रखने, तथा तप और संयम का जीवन व्यतीत करने का खूब अवसर मिलता है। उनमें आत्म-बल, साहस, निर्भीकता तथा सेवा-भाव बढ़ता है। ऐसे आदमियों में लोक-निन्दा का व्यर्थ भय नहीं रहता; ये सामाजिक रूढ़ियों के अन्ध विश्वासी नहीं होते। ये सब बाधाओं को कुचलते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। इनका प्रभाव इनके घरवालों, मित्रों तथा रिश्तेदारों पर भी पड़ता है। इस प्रकार सुधार की भावना का क्षेत्र दूर-दूर तक फैलता जाता है, और समाज भर में सुधारों के लिए अनुकूलता आजाती है; नहीं, नहीं; बहुत से सुधार, जिनके सम्बन्ध में बारबार सभाओं में व्याख्यान देने और प्रस्ताव पास करने से विशेष सफलता नहीं मिलती, राष्ट्रीय आन्दोलन से, जल्दी और आसानी से होजाते हैं। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आन्दोलन सामाजिक दृष्टि से बहुत लाभकारी होता है।

समाज-संगठन की आवश्यकता—हमने ऊपर समाज-सुधार सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर विचार किया है। समाज की हरेक कुरीति और कमजोरी को हटाने की जरूरत है। इसके साथ ही समाज के सब अंगों को आपस में मिलकर सामूहिक कार्यों में सहयोग देना चाहिए। यहाँ खासकर हिन्दुओं में कितनी ही जाति उपजातियाँ हैं, और हरेक जाति उपजाति प्रायः अपने-अपने ही स्वार्थ को सिद्ध करने में लगी रहती हैं। इसके अलावा हिन्दुओं और मुसलमानों में आपस में काफी मेल नहीं है, दूसरी जातियों की भी यही बात है; कहीं धर्म के

आधार पर, और कहीं सामाजिक रहनसह या संस्कृति आदि के नाम पर, अलग-अलग संस्थाएँ हैं, जिनका एक दूसरे से ईर्षा द्वेष चला जाता है। इसे दूर करने के लिए जहाँ तहाँ कुछ कोशिश हो रही है। भारतवर्ष की विविध जातियों और समूहों में मेल जोल बढ़ाने के लिए पिछले दिनों इलाहाबाद में 'हिन्दुस्तानी कल्चर सोसायटी' कायम हुई है। इसका उद्देश्य ऐसी कल्चर (संस्कृति) को बढ़ाना, फैलाना और प्रचार करना है, जिस में विना भेद-भाव सब हिन्दुस्तानी शामिल हों। यह एकता बढ़ानेवाले स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय कायम करेगी; पुस्तकें और पत्र पत्रिकाएँ छपायेगी, सभा सम्मेलन और व्याख्यानों (लेक्चरों) का इन्तजाम करेगी, लोगों में धार्मिक और सामाजिक भेद दूर कर सेवा-भाव बढ़ायेगी और इस तरह के दूसरे काम करेगी, जिनसे एकता बढ़ाने में मदद मिले। जब इस तरह के आदर्श और उद्देश्य वाली संस्थाएँ अच्छी तरह काम करने लगेंगी तो समाज का संगठन मजबूत होगा और उसकी शक्ति के सामने शासन सत्ता की भी कुछ न चलेगी भारतवर्ष आर्थिक, और राजनैतिक सभी दृष्टियों से महान हो जायगा।



तीसरा अध्याय

खेती

"खेती एक सार्वजनिक सेवा का काम है। इससे किसान अपनी रोजी ही पैदा नहीं करता, बल्कि राष्ट्रीय जीवन की रक्षा भी करता है।"

खेती सम्बन्धी जागृति का मतलब यह है कि खेत, बाग, जंगल, नदी, समुद्र और खान आदि की पैदावार काफी और बढ़िया हो; देश को उनकी किसी तरह की कमी न रहे, किसानों का जीवन सुखी हो,

और वे अपना विकास करते हुए नागरिक और राष्ट्रीय उन्नति में अच्छा हिस्सा ले सकें।

किसानों की पूर्वावस्था—प्राचीन काल में यहाँ किसानों की हालत बहुत अच्छी थी। उनके सुखी और सन्तुष्ट होने का इससे अच्छा क्या प्रमाण मिल सकता है कि यहाँ खेती का काम दूसरे सब पेशों से अच्छा समझा जाता था। 'उत्तम खेती मध्यम व्यापार, निखिद चाकरी, भीख नकार', उसी समय की कहावत है। अन्नदाता किसानों का राजा प्रजा सबमें आदर मान था। वे भूमि से होनेवाली आमदनी का एक निश्चित हिस्सा राज्य को दे देते और बेफिक्रीका जीवन बिताते थे। राजा को दिया जाने वाला यह कर जुदा-जुदा समय में आमदनी के दसवें से लेकर छठे हिस्से तक रहा। कुछ दशाओं में उपज का चौथाई या तिहाई भी दिया गया। याद रहे कि उस समय शिक्षा और न्याय की फीस आदि असंख्य करों को भरमार न थी। ज़मीनसे होने वाली आय ही सरकारी आमदनी का मुख्य भाग थी, और राज्य इस आय को स्वदेश-हित के कार्यों में व्यय करता था।

मुसलिम शासन काल में भी यही बात रही; पर अंगरेज़ी राज्य की स्थापना के समय से स्थिति बदल गयी; कारण, 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' इस देश को अपनी ज़मींदारी की तरह समझने लगी और जितनी ज्यादा से ज्यादा मालगुजारी यहाँ से वसूल हो सकी, उतनी वसूल करने में उसने कोई कसर बाक़ी न छोड़ी। जैसी कठोरता, कड़ाई और निर्दयता से उसने काम लिया, उसका जिक्र सरकारी काग़ज़ों में मौजूद है। सर विलयम डिग्बी महोदय जैसे सहृदय सज्जनों ने अपने ग्रन्थों में उसका साफ़ और खुलासा बयान किया है।

कृषि-जागृति की तीन अवस्थाएँ—कृषि सम्बन्धी जागृति पर

अच्छी तरह विचार करने के लिए हमें उस की तीन अवस्थाओं को ध्यान में रखना उचित होगा:—(१) सरकार ने जो सुधार किये, वे विशेषतया अपनी सुविधा या आय-वृद्धि के लिए किये; अथवा ब्रिटिश हित के लिए किये; भारतीय जनता की दशा सुधारने का उसका लक्ष्य न था, (२) सरकार ने जनता की दशा सुधारने की कोशिश की, पर उसी सीमा तक, जहाँ तक उसकी (सरकार की) अपनी हानि न हो; इसलिए जो सुधार हुए, वे बहुत महत्व के न थे। (३) सन् १९३७-३९ में प्रान्तों की सरकारों ने जो सुधार किये, इन में मुख्य लक्ष्य जनता की दशा सुधारना था। सन् १९३९ में कांग्रेस शासन न रहने पर यह सुधार-कार्य रुक गया, और कुछ बातों में हालत बहुत खराब हो गयी, लेकिन यह दशा रहने वाली नहीं; जागृति का कार्य आगे बढ़ेगा, और जल्दी ही बढ़ेगा। इन तीनों अवस्थाओं का क्रमशः विचार किया जायगा। पहले बंगाल के स्थायी प्रबन्ध आदि की बात लें, जिनका सम्बन्ध पहली अवस्था से है।

बंगाल में स्थायी प्रबन्ध—ईष्ट इंडिया कम्पनी की मालगुज़ारी सम्बन्धी नीति (अनीति ?) का जिक्र ऊपर किया जा चुका है; उसका फल बहुत ही बुरा हुआ। मालगुज़ारी वसूल न होने लगी; ज़मीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखों मरने लगे। तब कम्पनी के अधिकारियों की आँखें खुलीं, और, उनके ख्याल में यह बात आयी कि यह स्थिति हमारे लिए अच्छी नहीं; जब ज़मीन जोती ही न जायगी, जब प्रजा भूखों मर जायगी, तब हम मालगुज़ारी लेंगे किससे। अंत में लार्ड कार्नवालिस को सन् १७९३ में विश्वास होगया कि जब तक ज़मीदारों को यह निश्चय न हो कि उनकी ज़मीन से आगे जो फायदा होगा, उसका कुछ हिस्सा उन्हें भी मिलेगा, तब तक वे ज़मीन

का सुधार न करेंगे और ज़मीन जोतने या जुतवाने में भी उत्साह न दिखावेंगे। इसलिए उन्होंने बंगाल में मालगुज़ारी के बारे में स्थायी प्रबन्ध (इस्तमरारी बन्दोबस्त) कर दिया। यह क़ानून बन गया कि ज़मीन की इतनी आय सरकार को मिले, और शेष, ज़मींदारों के पास रहे। सरकार का हिस्सा उस समय की आय का ९० फ़ी सदी था; यह बहुत अधिक था। संतोष की बात यही थी कि भविष्य में ज़मीन के सुधार और उन्नति से आय बढ़ जाने पर, सरकार को निश्चित रक़म से अधिक नहीं मिलना था। जो हो, खेती की उन्नति के लिए अच्छी कोशिश की गयी। इससे बंगाल के ज़मींदारों की दशा क्रमशः सुधरने लगी, और वे दूसरे प्रान्तवालों के मुक़ाबले अधिक सुखी होने लगे।

दूसरे प्रान्तों की बात—पहले कम्पनी का विचार था कि ऐसा ही बन्दोबस्त भारतवर्ष के दूसरे प्रान्तों में भी किया जाय, परन्तु जब उसने स्वार्थ-भाव से यह सोचा कि ज़मीन की उपज दिनों-दिन बढ़ती जाती है, और उसके साथ मालगुज़ारी भी बढ़ायी जा सकती है, तो उसकी नीति बदल गयी। उत्तरी हिन्दुस्तान में यह निश्चय किया गया कि खेती का ख़र्च निकाल कर ज़मीन से जो आमदनी सरकार द्वारा कूती जाय, उसमें से ८३ फ़ी सदी सरकार को दी जाय, और शेष केवल १७ फी सदी काश्तकार या ज़मींदार को मिले; इस १७ फ़ी सदी में ही ज़मीन जोतने-बोने आदि का सब फल समझा जाय! जब प्रजा इतनी ज्यादा माल-गुज़ारी देने में असमर्थ रही तब सरकार ने अपना हिस्सा ८३ की जगह ७५ फ़ी सदी नियत किया। जब इसके भी वसूल होने में कठिनाई हुई, तब इसे घटाकर ६६ कर दिया गया परन्तु इससे भी

काम न चलता देख, सरकार को लाचार होकर सन् १८५५ ई० में अपना हिस्सा ५० फ़ी सदी ठहराना पड़ा। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के दक्षिणी प्रान्तों में कर दिया गया। इस प्रकार बङ्गाल, बिहार को छोड़कर सब कहीं सरकार ने ज़मीन की आमदनी का आधा हिस्सा अपने लिए केवल राजनैतिक अधिकार या ज़मीन के किराये के बदले में, और आधा हिस्सा प्रजा के लिए, समस्त परिश्रम और दौड़-धूप के बदले में, रखना निश्चय किया।

बेहद मालगुज़ारी—मालगुज़ारी, आय की ५० फ़ी सदी होने से भी, खेती की आमदनी से प्रजा का ख़र्च नहीं चलता, और वे दीन-हीन होते जाते हैं। कम्पनी के ज़माने में मालगुज़ारी के सम्बन्ध में भूलें हुई थीं, उन्हें दुरुस्त करने के इरादे से कहीं कहीं मालगुज़ारी घटायी भी गयी। पर, १८५८ ई० से कम्पनी के राज्य के बाद पार्लिमेंट के शासन में यह बात न हुई। सरकार अपना ख़र्च बढ़ाती गयी, इसलिए मालगुज़ारी से होनेवाली आमदनी को घटाना उसके लिए असम्भव हो गया। और सुनिए, सरकार ने धीरे-धीरे पटवारी, चौकी-दार, पुलिस, स्कूल, सड़क, शफ़ाख़ाने आदि के कई नये कर ज़मीन पर लगा दिये, और उन्हें भी मालगुज़ारी के साथ वसूल करने लगी। इस प्रकार मालगुज़ारी की दर कहीं-कहीं ५६ फ़ी सदी हो गयी, कहीं ५८ और कहीं ६० !!! मध्यप्रान्त के सम्बन्ध में तो सन् १९०७ में भारत-मंत्री मार्ले साहब ने स्वीकार किया था कि कुछ ज़मीन ऐसी है जिसकी मालगुज़ारी ६५ फ़ी सदी के हिसाब से ली जाती हैं। फिर, कितने ही अधिकारी मालगुज़ारी के लिए, खेती की असली आमदनी का बहुत ज्यादा अन्दाज कर लेते; जिन खेतों से, केवल खेती का ख़र्च ही निकलता (जिसमें किसान की मजदूरी भी शामिल है), और,

उसके अलावा और कुछ भी आय नहीं होती, उस पर भी अनेक दशाओं में सरकार मालगुज़ारी ले लेती। फिर, सरकार जो मालगुज़ारी लेती है, वह अनाज के रूप में नहीं, वरन् रुपये के रूप में लेती है। उसकी दर पैदावार का परता लगाकर नियत की जाती है। यह परता बन्दोबस्त के साल का लगाया हुआ होता था। पानी न बरसने, अधिक बरसने, अथवा बाढ़ या भूकम्प आदि से फ़सल ख़राब होजाने पर जब पैदावार कम हो जाती या किसी कारण से सस्ती हो जाती, तब भी सरकारी मालगुज़ारी प्रायः उतनी ही देनी होती थी। यह सच है कि कभी-कभी सरकार 'दया' करके मालगुज़ारी का कुछ अंश छोड़ भी देती थी, परन्तु वह छूट नुक़सान के हिसाब से बहुधा बहुत कम होती थी। इस प्रकार किसानों की दशा बहुत चिन्तनीय ही रही।

कृषि-विभाग की स्थापना; इंगलैंड की आवश्यकताओं की पूर्ति—सरकार ने बंगाल और उड़ीसा के अकाल के कारण यहाँ सन् १८६६ ई० में भारतीय कृषि-विभाग की स्थापना की; किन्तु उसका काम तीन वर्ष बाद आरम्भ हुआ; इसके सामने अंगरेजी पूँजीपतियों का ही हित मुख्य था। शाही कृषि कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, "यह विभाग इङ्गलैंड के कपास के व्यापारियों की इच्छानुसार १८६६ में फिर हाथ में लिया गया। भारत-सरकार की कृषि-नीति प्रायः इन्हीं व्यापारियों की इच्छानुसार निर्धारित होती रही है।" कपास के अलावा दूसरी चीजों पर भी, इङ्गलैंड के व्यापारियों का मन चला। उनके चाहने पर यहाँ प्रान्तों की सरकारों ने वनस्पतियों से बनने वाले रंग, वृक्षों की छाल, तेलहन और अनाजों

की जाँच करायी; तथा जिन जिन चीज़ों से इङ्गलैंड को फ़ायदा हो सकता था, उनको भारतीय कृषि-विभाग ने अपने हाथ में ले लिया।

इस विभाग ने अमरीका की कपास, मिश्र की तमाखू, तथा विदेशी गेहूँ आदि वस्तुओं को यहां पैदा करने के अनेक प्रयोग इस उद्देश्य से किये कि यदि इनकी काश्त यहाँ अच्छी तरह हो सके तो ब्रिटिश पूँजीपति यहाँ इनका कारोबार कर सकें। ये प्रयोग प्राय: सफल न हुए और इनमें इस देश का करोड़ों रुपया नष्ट हुआ। जो हो, सरकारी कृषि-नीति में भारतीय हित का तो बहाना मात्र रहा है। उसके प्रयोगों में भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि में उचित खादों के उपयोग, उत्तम प्रकार के बीज, पौधों के रोग, उनकी चिकित्सा, नये प्रकार के हलों, मशीनों और औज़ारों के उपयोग, तथा खेती करने के नये तरीक़ों का ज्ञान हासिल होता है, परन्तु उस ज्ञान का सर्वसाधारण में प्रचार करने की काफी कोशिश नहीं की जाती। भारतवर्ष में एक इम्पीरियल कृषि-अनुसंधान समिति ('रिचर्स कौंसिल') है, तथा कुछ खास-खास नगरों में चीनी, दूध, मक्खन (डेयरी), और रुई आदि के अनुसंधान के लिए भी संस्थाएँ हैं। इनके सम्बन्ध में भी यही बात ठीक बैठती है।

अब हम कृषि-जागृति की दूसरी अवस्था का विचार करते हैं, जिसमें सरकार ने जनता के हित के कुछ सुधार तो किये, पर विशेष महत्व के नहीं।

कुछ मामूली सुधार—इस अवस्था में भी सरकार अपनी मालगुजारी की ज्यादती के दोष को स्वीकार करने और उसे दूर करने

को तैयार नहीं हुई; हाँ, उसने कुछ सुधार किये; उनका कुछ परिचय आगे दिया जाता है। पहले ज़मींदार, कुछ स्थानों में, विशेषकर बंगाल में, किसानों को बहुत सताया करते थे, और उनसे मनमाना लगान वसूल कर लेते थे। सरकार ने किसानों को बचाने के लिए हरेक प्रान्त में कुछ क़ानून बना दिये। अब काश्तकारी क़ानूनों के कारण, उन्हें बेदखली का विशेष भय न रहने से यह भरोसा रहने लगा कि खेती की उन्नति करने से जो अधिक लाभ होगा वह सब ज़मींदार को ही नहीं मिल जावेगा, वरन् उसके एक बड़े हिस्से के अधिकारी खुद किसान ही होंगे। इन कानूनों के होने हुए भी अनेक स्थानों में ज़मींदार गुप्त रूप में किसानों से बहुत अधिक रुपया वसूल करते रहे।

तक़ावी—सरकार किसानों को खेती के लिए जो रुपया उधार देती है, उसे 'तक़ावी' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यहाँ सन् १८८३ ई० में भूमि की उन्नति के लिए, और १८८४ में किसानों की सहायता के लिए, क़ानून पास हुए। परन्तु किसानों की संख्या तथा आवश्यकता को देखते हुए तक़ावी में दी जाने वाली रक़म बहुत कम होती है। फिर, राजकर्मचारी किसानों से किस्तों में रुपया लेने में उनकी सुविधा का विचार नहीं रखते। सूद की दर भी, जैसी कम चाहिए, नहीं होती।

सहकारी बैंक—किसानों को, महाजनों आदि के भारी सूद से बचाने के लिए सरकार ने सन् १९०४ ई० में सहकारी बैंकों के सम्बंध में एक क़ानून बनाया, इसमें पीछे कुछ संशोधन हुआ। उसके अनुसार अब हरेक प्रान्त में तीन तरह के बैंक हैं। (१) ग्रामीण बैंक—जिसे एक गाँव या पास पास के कई गाँवों के दस-दस या अधिक आदमी मिलकर बना लेते हैं (२) शहरी बैंक—जो एक नगर के कारीगरों,

व्यापारियों या मज़दूरों आदि की मदद के लिए बनाये जाते हैं। (३) सेन्ट्रल बैंक—जो ऊपर बताए हुए दो तरह के बैंकों को धन की सहायता देते हैं। इन बैङ्कों का प्रबन्ध स्थानीय सहकारी समितियों के सभासद ही करते हैं; और, रुपया सभासदों को ही उधार मिल सकता है, सो भी उत्पादक कार्यों के लिए; अर्थात्, इन बैंकों से ऋण लेकर फ़िजूलख़र्ची नहीं की जा सकती। सरकारी नौकरों कारी- गरों, किसानों और मज़दूरों सब की ही बचत इन बैङ्कों में रखी जा सकती है। इन में ब्याज अधिक मिलता है। इन बैङ्कों से लोगों में एक दूसरे का विश्वास बढ़ने के साथ-साथ दूरंदेशी और किफ़ायत आदि गुणों का भी विकास होता है। मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों और बैङ्कों के सिद्धान्तों को समझाने में ये बैंक बहुत सहायक हैं। इन से कृषि, व्यापार. शिल्प, पुस्तकालय, पाठशालाओं, सफ़ाई अच्छे मकानों, और सुन्दर पशुओं की उन्नति हो सकती है। इस प्रकार, सहकारी बैंकों की निर्धन कृषक प्रधान भारतवर्ष में अत्यन्त आवश्यकता है। पर यहाँ इनका प्रचार अभी अत्यन्त कम है। फिर इनमें बहुधा किसानों से रुपया वापिस लेने में इतनी सख्ती होती है कि वे बेचारे भविष्य में महाजनों का ही आसरा लेने का विचार कर लेते हैं। इस से बैङ्कों का उद्देश्य ही विफल हो जाता है।

सिंचाई—कुछ किसान लोग कुए और तालाब बना लेते हैं, पर निर्धनता के कारण बहुतेरे आदमी इन्हें नहीं बना सकते। नहरों के लिए तो सब को राज्य पर निर्भर रहना पड़ता है। भारतवर्ष में नहरों के निर्माण में विशेष ध्यान इसी सदी में दिया गया है। सन् १९०३ ई० के आबपाशी-कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने कई नहरें बनवाई हैं। पंजाब में नहरें निकलने से

कई जगह अच्छी सुन्दर नहरी बस्तियां या उपनिवेश (कालोनी) बन गये हैं। इनकी पैदावार तथा आबादी पहले से कई गुना बढ़ गयी है। संयुक्तप्रान्त में शारदा नहर निकाली गयी है, इससे कई लाख एकड़ भूमि में आबपाशी होती है। सिंध में सक्खर बांध बनाया गया है, जिससे सिंध की लाखों एकड़ बंजर भूमि हरी-भरी और खूब उपजाऊ हो गयी है। तो भी इस समय लगभग १,६०० लाख एकड़ अर्थात् ७५ प्रति-सैकड़े जोती हुई भूमि केवल वर्षा के भरोसे रहती है। यह ठीक नहीं। नहरों को बढ़ाने की यहाँ बहुत आवश्यकता है, विशेषतया दक्षिण मालवा, गुजरात, मध्यप्रांत, सिंध और राजपूताने के अनिश्चित वर्षा वाले इलाकों में। जिन स्थानों में हवा चलती है, वहां हवा से चलने वाले रहंट द्वारा कुओं से जल निकालने की विधि बहुत लाभकारी हो सकती है। संयुक्तप्रांत आदि कुछ प्रांतों में 'टयूब वेल' नाम के कुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है; इन्हें 'पातालफोड़' कुए कहते हैं। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है। इन कुओं में, सिंचाई आदि के लिए जल की कमी नहीं होती। जल निकालने का काम बिजली की शक्ति से लिया जाता है।

पिछले वर्षों में कृषकों को आबपाशी-विभाग के सम्बन्ध में कई शिकायतें रही हैं, यथा आबपाशी की दर बहुत अधिक होना, तथा सिंचाई के लिए पानी समय पर न मिलना, आदि। सन् १९३७-३९ में प्रान्तीय सरकारों, विशेषतया कांग्रेसी सरकारों ने किसानों के हित की ओर काफी ध्यान दिया और शिकायतों का अवसर न आने देने का प्रयत्न किया।

कृषि कमीशन—सन् १९२६ में एक शाही कृषि कमीशन नियत हुआ था। उसके कार्य में करीब तेरह लाख रुपये खर्च हुए, और

उसकी अंगरेज़ी में, साढ़े सात सौ सफे की भारी भरकम रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें उसने कृषि सम्बन्धी उन्नति, अनुसन्धानों, भूमि-विभाग, नुमायशों पशु-चिकित्सा आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि-शिक्षा, सहकारी साख सभाओं, और कृषि सम्बन्धी नौकरियों आदि पर अपने विचार प्रकट किये। भारतवर्ष में कृषि की उन्नति के लिए बहुत धन खर्च करके नयी-नयी रिपोर्टें प्रकाशित करने की इतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि जो जानकारी मिली हुई है, उसे अमल में लाया जाय।

ग्राम-सुधार—यह कोई एक कार्य नहीं है, वरन् कई कार्यों का सामूहिक नाम है। इसमें, गाँवों का स्वास्थ्य, चिकित्सा और सफ़ाई, शिक्षा-प्रचार, पुस्तकालय, वाचनालयों की स्थापना, किसानों का क़र्ज़ से छुटकारा, उन्हें खेती सम्बन्धी सुधारों का ज्ञान कराना, छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों और गृह-शिल्प की उन्नति तथा कुए और सड़कें बनवाना आदि वे सब काम शामिल हैं, जिनसे गांव वालों का सुख और सुविधाएं बढ़ें। हमारी ९० प्रतिशत जनता गावों में रहती है। जब राजनैतिक आन्दोलन की लहर गांवों की ओर बढ़ी, तो जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के वास्ते ग्राम-सुधार के लिए भारत-सरकार ने सन् १९३५-३६ ई० में कुछ विशेष ध्यान दिया। उस वर्ष एक करोड़ रुपया इस काम के लिए रखा गया, तथा अगले वर्ष बजट में बचत होने पर वह भी इसी मद में लगाने का निश्चय किया गया। यह रक़में देश की विशाल जनता और क्षेत्र के विचार से बहुत कम थीं; फिर, इनका भी पूरा उपयोग नहीं हुआ; और अधिकतर रुपया सरकारी कर्मचारियों के वेतन और भत्ते आदि में, या दूसरे दिखावटी

कामों में ख़र्च किया गया। गाँवों को विशेष लाभ न हुआ।

काँग्रेसी सरकारें—कृषि-जागृति की तीसरी अवस्था सन् १९३७ ई० से आरम्भ होती है, जब से कि नये विधान का प्रान्तों सम्बन्धी भाग अमल में आया, विशेषतया जब से कांग्रेस ने मन्त्री-पद ग्रहण किया। कांग्रेस शासन १९३९ तक ही रहा, पर इसके फिर जारी होने की आशा बनी हुई है। सन् १९३७ में कांग्रेसी सरकारें पदारूढ़ होते ही, किसानों के कष्टों की ओर ध्यान देने लग गयीं। उनके सामने कई कठिनाइयां थीं। किसानों के कष्ट बहुत समय के और बहुत अधिक थे, पर विधान के अनुसार प्रान्तीय सरकारों के अधिकार बहुत सीमित थे। फिर, क़ानून बनाने में काफ़ी समय लगता है, विशेषतया जब कि देश में, ज़मींदारों आदि का भी खासा दल हो, जिसका स्वार्थ अलग ही हो, जो किसानों के हित में अपना अहित मानता हो; और उसे यथा-सम्भव टालना या उसमें बाधा उपस्थित करना चाहता हो। जो हो, विविध प्रांतीय सरकारों ने अपने-अपने प्रान्त की परिस्थिति के अनुसार किसानों के लिए उपयोगी क़ानून बनाने का विचार किया, और कुछ बातों की व्यवस्था उसी समय करदी। मिसाल के तौर पर संयुक्तप्रान्त के कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने यह आज्ञा जारी कर दी कि बकाया लगान वसूल करने की कार्रवाई रोक दी जाय। व्यवस्थापक मंडल ने भी इन आज्ञाओं की स्वीकृति दे दी। एक कृषि सम्बन्धी ('ऐग्रेरियन') कमेटी बना दी गयी, जो लगान और मालगुज़ारी के क़ानून में ऐसे संशोधन करें, जिनसे किसानों के कष्ट दूर हों, तथा किसान, ज़मींदार और सरकार का एक-दूसरे से अच्छा सम्बन्ध रहे। एक और कमेटी किसानों के ऋण के सम्बन्ध में विचार करने के लिए बनायी

गयी। सरकार ने यह भी तय कर दिया कि सरकारी जङ्गलों के पास के गाँवों के लिए मवेशियों की चराई की फ़ीस आधी करदी जाय।

ऐसे कार्य दूसरे प्रान्तों में भी किये गये। भारत-सरकार द्वारा ग्राम-सुधार का कार्य बहुत असफल रहने की बात पहले कही जा चुकी है। अब प्रान्तीय सरकारों ने, विशेषतया काँग्रेस-सरकारों ने, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ग्रामोन्नति की कोशिश की। उनके ग्राम-सुधार विभाग ने यथा संभव अवैतनिक कार्यकर्ताओं के सहयोग से खूब काम किया। जहाँ तहाँ कुछ उदार सज्जनों की सहायता से पशु-पालन, डेयरी खोलने, पशुओं की नस्ल सुधारने की ओर भी ध्यान दिया गया।

काश्तकारी क़ानून—संयुक्तप्रान्त में लगान और मालगुजारी के संशोधन सम्बन्धी क़ानून बनाने के विचार का ऊपर जिक्र किया गया है; उसके सम्बन्ध में विचार विनिमय होने, लोकमत प्राप्त करने, तथा विशेषज्ञों की राय लेने आदि में काफी समय लगा। बात यह है कि किसान-समस्या पर भिन्न भिन्न वर्गों के आदमियों में बड़ा मत-भेद है। किसान अधिक से अधिक अधिकार लेना, और ज़मींदार आदि कम से कम देना चाहते थे।

इस क़ानून से किसानों को मिलनेवाली मुख्य-मुख्य सुविधाएँ ये हैं:—(१) उन्हें मौरूसी का हक़ मिला है, (२) सीर की मौरूसी भी मिली है, यद्यपि कुछ अंशों में ही; (३) बेदखली के अवसर पर सुधारों के लिए हर्जाना मिलने की व्यवस्था है, (४) अपने खेतों पर सुधार करने का अधिकार मिला है, जिनके लाभ का उपयोग किसान स्वयं करेगा, (५) हरी बेगारी, शायद मुतालबा सब ग़ैर-कानूनी क़रार दिया गया, (६) उत्तराधिकारियों की संख्या बढ़ायी गयी है, (७) छोटे तथा बड़े जमींदारों के हकों की पूरी हिफाजत

की गयी है, और बड़े जमींदारों के उन स्वार्थों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है, जो किसानों के लिए हानिकर हैं, (८) पेड़ लगाने का, और गिरे हुए पेड़ों पर, किसानों को अधिकार मिला है। (६) अपनी भूमि पर मवेशियों के तथा अपने लिए घर बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ है। (१०) आपत्ति-काल में छूट का (लगान मे कमी कराने का) अधिकार मिला है (११) लगान की दर में कमी की जाने की व्यवस्था की गयी है,. (१२) किसी भी दशा में ज़मींदार अपने फ़ायदे के लिए किसान से ज़मीन छीन नहीं सकता।

किसानों की सुविधा को ध्यान में रख कर विहार आदि प्रान्तों में भी कांग्रेसी सरकारों ने क़ानून बनाये हैं। इन क़ानूनों से किसानों को सुधार की अच्छी ख़ासी किस्त मिल गयी है; ज़मीदारों को भी यह क़ानून संतोषप्रद ही है। इस प्रकार एक उलझी हुई समस्या को सुलझाने का यह एक सीमा तक सफल प्रयत्न हुआ है; तथापि यह स्वीकार करना होगा कि समस्या पूरे तौर पर नहीं सुलझी है, और उसकी जटिलता उस समय तक बनी ही रहेगी, जब तक उसके मौलिक दोष को—ज़मींदारी प्रथा को—निर्मूल न कर दिया जायगा। इसके सम्बन्ध में आगे लिखा है।

किसानों सम्बन्धी समस्याएँ; आर्थिक स्थिति—अब हम किसानों सम्बन्धी वर्तमान समस्याओं पर कुछ विचार करते हैं। किसानों की आर्थिक हीनता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। हम यह भी बता आये हैं कि तक़ावी तथा सहकारी बैंकों से उन्हें जो सहायता मिलती है, वह बहुत कम है। विविध प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारों ने किसानों को ऋण-मुक्त करने के असली उपाय सोचे; और, इस उद्देश्य में अपनी लगान और मालगुज़ारी नीति में भी

परिवर्तन करने का विचार किया।* सहकारी समितियों आदि द्वारा यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि किसानों को अपनी पैदावार के अच्छे दाम मिलें। उन्हें बाजार-दर से परिचित कराने के लिए हाट-व्यवस्था की योजना उपयोगी है, इसके बारे में ज्यादा अगले अध्याय में लिखा जायगा।

खेतों का बटवारा और चकबन्दी—भारतवर्ष में बहुत से खेत बहुत छोटे-छोटे हैं; कितने ही खेत तो एक-एक या आधी-आधी एकड़ के ही हैं। हरेक किसान-परिवार के पास इतनी भूमि अवश्य होनी चाहिए कि उसकी उपज की आय से उसका कुछ अच्छी तरह से निर्वाह हो सके। फिर, यहाँ बहुत से किसानों के पास एक-एक से अधिक खेत हैं, जो एक-दूसरे से दूर हैं। इनमें काम करने में समय, शक्ति और धन बहुत लगता है, और अकसर किसानों का, बीच की ज़मीन वालों से झगड़ा भी होता रहता है। इसके सुधार का उपाय यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में, एक चक में, हो जायँ और भविष्य में उनका छोटे छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना क़ानून द्वारा रोक दिया जाय।

आज कल खेतों के बटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों का दाय-विभाग क़ानून है। इसमें ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी खेत का प्रायः चार एकड़ से कम का हिस्सा किसी हक़दार को मिलना नाजायज़ समझा जाय, जरूरत होने पर पूरा खेत सब हक़दारों में ही नीलाम कर दिया जाय; जो उसके लिए सबसे ज्यादा रुपये दे

* लगान की प्रथा पुराने ज़माने की एक ऐसी बात है जो अब हटा दी जानी चाहिए, और उन्नत देशों में हटायी जा चुकी है। ज़मीन से होनेवाली आय पर उसी तरह 'इनकम टैक्स' लिया जाना चाहिए, जिस तरह दूसरी आमदनी पर लिया जाता है। जिन किसानों की आय केवल अपना पालन पोषण करने योग्य हो हो, या उससे भी कम हो, उनसे सरकार को कर के रूप कुछ न लेना चाहिए।

उसी को वह खेत मिले; दूसरे हक़दारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिला दिया जाय।

ज़मींदारी प्रथा—ब्रिटिश भारत में तीन तरह का बन्दोबस्त है, (१) स्थायी जमींदारी प्रबन्ध; बङ्गाल में, विहार के ५।६ भाग में, एवं आसाम के आठवें और संयुक्तप्रान्त के दसवें भाग में। (२) अस्थायी जमींदारी, ताल्लुकेदारी या महालवारी प्रबन्ध; संयुक्तप्रान्त में ३० वर्ष और पंजाब तथा मध्यप्रान्त में २० वर्ष के लिए मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है; गांव वाले मिलकर इसे चुकाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। (३) रय्यतवारी प्रबन्ध; बम्बई, सिंध, मदरास, और आसाम में एवं बिहार के कुछ भाग में। इन स्थानों में सरकार सीधा काश्तकारों से सम्बन्ध रखती है। बम्बई और मदरास में ३० वर्ष में, और दूसरे प्रान्तों में जल्दी बन्दोबस्त होता है। इस प्रकार भारतवर्ष का बहुत सा हिस्सा ऐसा है जिसमें जमींदारी प्रथा या ताल्लुकेदारी प्रथा है। अंगरेजी सरकार से पहले, जमींदार आदि एक प्रकार के सरकारी कर्मचारी थे, जो लगान वसूल करके खजाने में भेजते थे। अंगरेजी सरकार ने देश में अपनी सत्ता जमाने में सहायता पाने के लिए इनका मान और प्रतिष्ठा बढ़ा दी। ये अपने आपको जमीन का मालिक समझने लगे। किसान जितना लगान देते हैं, उसका बंगाल में बहुत बड़ा हिस्सा, तथा दूसरे प्रान्तों में आधा या इससे अधिक हिस्सा इन्हें मिल जाता है। और, ये अकसर बिना मेहनत किए ही आराम-तलबी या ऐयासी की जिन्दगी बिताते हैं।

जमींदारों का लगान-वसूली का काम करकारी कर्मचारियों से बहुत सस्ते में कराया जा सकता है, जैसा कि रय्यतवारी प्रान्तों में हो रहा है। इन्हें इतनी अधिक आय क्यों होनी चाहिए, जब कि देश की आर्थिक

दशा अच्छी नहीं है, और जनता के हित के कामों के लिए धन की बहुत कमी है। इस विचार से सन् १६३७ में कांग्रेस-सरकार ने बिहार में ज़मींदारों की आय पर पांच हजार रुपये या अधिक की आय पर 'कृषि-आय-कर' लगाया। असल में कर लगाने के लिए आय की यह सीमा अधिक है। जब कि इनकमटेक्स के लिए दो हजार रुपये से कम की ही आमदनी कर से मुक्त या बरी है तो कृषि-आय-कर के लिए तो पांच सौ रुपये तक की ही आमदनी की छूट रखनी चाहिए; कारण, खेती की आय देहातों से होती है, जहाँ जीवन-निर्वाह कम खर्च में हो सकता है। फिर, बिहार में सहुलियत के लिए शुरू में कर की दर भी कम रखी थी। पर यह सोचा गया था कि पीछे धीरे-धीरे इसे बढ़ाया जा सकेगा। लेकिन १६३६ में कांग्रेस-शासन ही समाप्त हो गया।

समाजवादी तथा दूसरे कितने ही नेताओं की मांग यह है कि ज़मींदारों को कुछ मावज़ा या प्रतिफल देकर, ज़मींदारी प्रथा का अन्त कर दिया जाना चाहिए। सारी भूमि राष्ट्र की, यानी राष्ट्रीय सरकार की हो। जो आदमी खुद खेती करें, उन्हें आवश्यकतानुसार भूमि दी जाय, जिससे हरेक किसान का भरण-पोषण अच्छी तरह हो सके।

सन् १६३६-४० में सरकार ने एक कमीशन मालगुजारी प्रथा के विविध पहलुओं पर, खास कर स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में, विचार करने के लिए नियत किया था। उसके बहुमत की रिपोर्ट यह रही कि सरकार सब जमीन को खरीद ले, और स्थायी बन्दोवस्त के आधार पर किसी का ज़मीन पर अधिकार न रहे।

किसानों का निर्वाह—श्री० किशोरीलाल मश्रुवाला का, और

गांधी विचार-धारा वाले दूसरे बहुत से आदमियों का, मत है कि रैयतवारी प्रथा जमींदारी से इस बात में अच्छी अवश्य है कि राज्य और प्रजा के बीच से एक मध्यस्थ कम हो जाता है, लेकिन, वैसे यह प्रथा भी ऐसी ही है, जैसी अनुपस्थित भूस्वामी प्रणाली होती है, जिसमें मालिक अपना कर्तव्य सिर्फ लगान वसूल करना और समय-समय पर उसे बढ़ा देना समझता है। रैयतवारी प्रथा में किसान का ज़मीन पर अधिकार तभी तक रहता है, जब तक वह अपना लगान ठीक ठीक चुकाता रहे। किसान को निर्वाह-वेतन मिलता है यानी उसे अपने गुजारे लायक आमदनी होती है, इस बात की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं होती। होना यह चाहिए कि किसान को निर्वाह-वेतन तो अवश्य ही मिले, चाहे वह ठहराया हुआ लगान न भी चुका सके। हाँ, किसान को राज्य की हिदायतों के अनुसार और उस की देखरेख में खेती करने और उसमें आवश्यक सुधार करते रहने को बाध्य होना चाहिए।

किसानों का संगठन—किसानों के कष्ट बहुत समय से चले आ रहे हैं। उनमें शिक्षा की इतनी कमी है कि वे कई बातों में अपनी रक्षा के लिए वर्तमान कानूनों का भी पूरा लाभ नहीं उठा पाते। यदि उनका समुचित संगठन हो तो उनकी बहुत सी असुविधाएँ दूर हो सकती हैं, तथा, उनकी निर्धनता और अज्ञान हटने में भी बहुत सहायता मिल सकती है। इसलिए गांव-गांव में किसानों की एक पंचायत, सभा या संघ स्थापित होकर, उसे स्थानीय परिस्थिति के अनुसार अपने क्षेत्र के किसानों के हितसाधन में लगना चाहिए, और, यथा-सम्भव दूसरे क्षेत्रों की इस प्रकार की संस्थाओं से सहयोग करना चाहिए।

यहाँ पहले ग्राम-पंचायतों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है; वे स्वावलम्बी थीं, गांव को जिन चीज़ों की ज़रूरत होती थी, वे ज़्यादातर वहाँ ही पूरी की जाती थीं। जो चीज़ें गांव में पैदा ही नहीं हो सकती थीं, सिर्फ उन्हें ही बाहर से मंगाया जाता था, और जो चीज़ें अपनी ज़रूरत से ज्यादा होती थीं, उन्हें ही बाहर भेजा जाता था। पंचायतों की बदौलत लोगों में आपस में मेलजोल, सहानुभूति और प्रेम का जीवन सुखी और संतुष्ट था। झगड़ा, बैर विरोध, अकाल, मंहगायी आदि न थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने हमारा सामाजिक ढांचा बिगाड़ दिया; ग्राम-पंचायतें नष्ट करदी। हमें फिर उनकी आवश्यकता है।

किसान-आन्दोलन को अखिल भारतीय स्वरूप सन १९३५ में मिला है; यों किसान-सभाएँ देश में इस से बहुत पहले से हैं। १९२१-२२ और १९३०-३२ के आन्दोलन में हज़ारों किसान जेल गये। धीरे धीरे कुछ लोगों को यह मालूम हुआ कि कांग्रेस में ज़मींदारों का ज़ोर है, और वह किसानों का काफी पक्ष नहीं ले रही है, इसलिए उन्हों ने किसानों का अलग संगठन बनाने की आवश्यकता समझी! पहले बिहार, आन्ध्र, संयुक्तप्रान्त और बंगाल आदि में प्रान्तीय संगठन हुए। पीछे सन् १९३५ में एक अखिल भारतीय किसान सङ्गठन कमेटी बनी, उसके उद्योगसे सन् १९३६ में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के सभापतित्व में अखिल भारतीय किसान काँग्रेस का लखनऊ में अधिवेशन हुआ। इसमें अखिल भारतीय किसान-घोषणापत्र तैयार किया गया और किसानों की कम से कम माँगे निश्चित की गयीं।

खेद है कि कहीं कहीं कुछ आदमी अपनी नेतागिरी के लोभ से किसान-सभाओं में फूट डाल देते हैं, और अपनी जुदा संस्थाएँ कायम कर लेते हैं। कितने ही गांवों में इन 'नेताओं' ने सभाओं को साम्प्रदायिकता की दलदल में फँसा दिया है, उनका ध्यान देश की मुख्य समस्याओं से हटाकर उन्हें गौण बातों में उलझा दिया है हमारा उद्देश

देश को सुखी और स्वतन्त्र करना है, भारतवर्ष में किसान-मजदूर, जनता का राज्य स्थापित करना है। इस लिए किसानों का कोई आन्दोलन कांग्रेस या राष्ट्र-सभा के कार्य में बाधक न होना चाहिए, जो इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए लगातार उद्योग कर रही है।

गाँधी ने कहा है कि गणतंत्र के आधार पर स्थापित किसान-मजदूर प्रजा-राज ही स्वराज्य है।' और 'भूमि पर किसानों के, और कल कारखानों पर मजदूरों के, अधिकारों के साथ साथ देश के राजनैतिक अधिकार भी पूर्ण रूप से उनके ही हाथों में रहेगे।' इससे स्वराज्य के सम्बन्ध में म० गाँधी और कांग्रेस की स्थिति साफ जाहिर है। देश के किसानों और मजदूरों को चाहिए कि आर्थिक अधिकारों के लिए अपना संगठन करें और संस्थाएँ बनावें, परन्तु राजनैतिक अधिकारों के लिए कांग्रेस के झण्डे के नीचे ही काम करें और उसकी शक्ति बढ़ावें। किसी महत्वाकाँक्षी या नेता बनने की चाह वाले आदमी की बातों में आकर हमें अपने कर्तव्य से विचलित होना, या अनुशासन भंग करना उचित नहीं है।

विशेष वक्तव्य— आशा है कि अब किसान चिरकाल तक दीन-हीन दशा में न रहेंगे। उनमें सेवा, त्याग और परिश्रम आदि अमूल्य मानवी गुण विद्यमान हैं। बाहरी साधन अनुकूल होने पर, खासकर आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति सुधर जाने पर, भारतवर्ष में फिर खेती के काम का गौरव बढ़ेगा और भारतीय किसान सुख और स्वाभिमान की जिन्दगी बिताता हुआ मनुष्य जाति की उन्नति में अच्छा सहायक होगा।

पांचवाँ अध्याय

उद्योग धन्धे



औद्योगिक जागृति से हमारा मतलब यह है कि देश में शिल्प, व्यवसाय, कारीगरी और उद्योग धंधों से ऐसा और इतना सामान बने कि हम विदेशों के आसरे न रहें, अपनी सब जरूरतें खुद पूरी कर सकें। साथ ही हमारे कारीगरों और माल बनानेवालों का रहन सहन का दर्जा काफी ऊंचा हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और विकास में कोई बाधा न हो, और उनका जीवन सुखी हो। हमारी चीजों का संसार के बाजार में, और हमारे आदमियों का मानव समाज में, अच्छा स्थान हो। मोटे हिसाब से हमारी इस समय की औद्योगिक जागृति, धार्मिक और सामाजिक जागृति की अपेक्षा, कम समय की है; यह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में शुरू हुई। इसका विचार करने के लिए, पहले की हालत पर एक नजर डालना जरूरी है।

भारतवर्ष की प्राचीन समृद्धि—साधारण आदमी को यह जल्दी विश्वास नहीं होता कि जिस भारत भूमि में अपने ही करोड़ों आदमियों के लिए अन्न-वस्त्र की कमी है, वह कभी विदेशियों का भी पेट भरने और शरीर ढकने वाली समृद्धिशाली "सोने की चिड़िया" रही होगी। परन्तु, इतिहास-प्रेमियों ने यह भली भांति सिद्ध कर दिखाया है कि ईसा मसीह से हजारों वर्ष पहले से लेकर बहुत समय बाद तक भारतवर्ष अन्य देशों के निवासियों की आवश्यकताएँ

पूरी करता रहा। मुग़ल शासन के अधिकांश समय में भी किसान और कारीगर सुख की नींद सोते रहे। बादशाओं की सुरुचि या शौक़ीनी के कारण देश का कला-कौशल, गृह-निर्माण, शिल्प और हुनर बाहर वालों के लिए नमूना बने रहे। सतरहवीं ही नहीं, अठारहवीं सदी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, र्ती और रेशमी वस्त्रों तथा अन्य पदार्थों के लिए सारा योरप लालायित था। यहां से करोड़ों रुपये का माल बाहर जाता था, और विदेशियों को चकित करता था।

मशीनों का युग— इस अवसर पर मानवी ज्ञान के इतिहास में एक घटना हुई, जिससे लाभ न उठा सकने के कारण, भारतवर्ष सांसारिक घुड़दौड़ में दूसरे देशों से पीछे रह गया। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान में उन्नति करके भाप को अपना सेवक बना लिया और कल-कारख़ानों से काम लेना आरम्भ कर दिया। दूसरे देशों की तरह पहले इंगलैंड में जो माल कलों से तैयार हुआ, वह हाथों से तैयार किये हुए माल की अपेक्षा भद्दा और मँहगा था, पर वहां की सरकार स्वतंत्र और स्वदेश-हितैषी थी। उसने 'स्वदेशी-प्रचार' की नीति रखी, (अपने यहां के माल बनानेवालों को तरह तरह से प्रोत्साहन दिया, और उन्हें आर्थिक सहायता देकर अपना माल बाज़ार में सस्ते भाव से बेचने के लिए प्रेरित किया)। इस प्रकार वह माल इंगलैंड में ही नहीं, बाहर देशों में भी बिकने लगा। साथ ही उसने विदेशी माल पर ७०, ८० फ़ी सदी तक ऐसा कर लगाया कि वह माल इंगलैंड में खप ही न सके। उस समय भारतवर्ष की कारीगरी बहुत उन्नत अवस्था में थी। यदि यहाँ के शासकों को आज़ादी होती, और इस देश को आत्म-रक्षा के लिए विलायती माल पर वैसा ही कर लगाने

का अधिकार होता तो इसे औद्योगिक क्षेत्र में नीचा देखने का अवसर न आता। पर यह न हुआ।

कम्पनी के समय में औद्योगिक ह्रास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में भारतीय कारीगरी और व्यवसाय पर क्या बीती, उसके गुमाश्तों ने कैसी-कैसी मनमानी कार्रवाई की, किस तरह उनके अत्याचारों से कारीगरों की बस्तियां उजड़ गयीं, और जन साधारण तंग आकर घर द्वार छोड़ कर भाग गये; इन बातों का विशेष वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। अपनी स्वेच्छाचारिता से, कम्पनी ने उस समय की राजनैतिक उथलपुथल में, यहाँ के व्यापार को नष्ट करने में कोई कसर न उठा रखी। इंगलैण्ड के अधिकारियों ने भी उसे इसमें भरसक सहयोग प्रदान किया। विविध प्रामाणिक ग्रन्थों में इस बात का सविस्तर ब्योरा प्रकाशित हो चुका है कि कम्पनी का शासन-काल हमारे औद्योगिक ह्रास का समय रहा है। कम्पनी ने इस देश को कृषि-प्रधान बना दिया; अब लगभग ७० फीसदी आदमी सिर्फ खेती के भरोसे रहते हैं।

कम्पनी के राजनैतिक अन्यायों और उसकी घातक व्यापार-नीति का परिणाम यह हुआ कि इस देश से तैयार माल की रफ़्तनी दिनों दिन घटती गयी। शाल, मलमल आदि सूती रेशमी और ऊनी वस्त्र, शक्कर तथा कई प्रकार के अर्क व अन्य पदार्थ टैक्सों की अधिकता के कारण विलायत को बहुत कम जाने लगे; यह देश केवल अन्न रुई, सन्, रेशम आदि कच्चा माल बेचनेवाला रह गया। असल में अंगरेजों का हित इसी बात में था कि भारतवर्ष उन्हें इंगलैंड के कल-कारखानों के लिए ये कच्चे पदार्थ देवे। रुई के लिए पहले उन्हें अमरीका पर आश्रित रहना पड़ता था। भारतवर्ष से ही

अच्छी कपास काफी मिल सके, इसके लिए उन्होंने बरार, सिन्ध और पंजाब आदि प्रान्तों पर अधिकार किया। फिर, कपास की उपज बढ़ाने के लिए कोशिश की गयी। इसी प्रकार नील और चाय आदि की खेती की ओर भी अंगरेज़ों ने खूब ध्यान दिया। कम्पनी की शिक्षा-नीति भी उद्योग धन्धों की उन्नति में बाधक रही। शिक्षा-संस्थाएँ इस उद्देश्य से खोली गयीं कि युवक दफ़्तरों में नौकरी करने योग्य रहजायँ, न कि देश को शिल्प व्यवसाय आदि में स्वावलम्बी बनें। रेलों के चलाने में भी यह लक्ष्य रखा गया है कि वे यहाँ का कच्चा और सस्ता माल विदेशों को भेजने, और बाहर का तैयार और क़ीमती सामान इस देश में लाने में मदद दें। वैसे, उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि उनसे यहाँ ब्रिटिश राज्य को जमाने और मजबूत करने में सहायता मिले; आवश्यकता के समय सेनाएँ शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जा सकें। वास्तव में भारतवर्ष को रेलों की अपेक्षा पक्की सड़कों तथा नहरों की आवश्यकता अधिक थी; परन्तु सरकार ने अपने तथा इङ्गलैंड के लाभ के वास्ते कर रेलों पर ही ज्यादा खर्च किया।

औद्योगिक उन्नति का आरम्भ—धीरे-धीरे भारतीय नेता यह सोचने लगे कि देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए यहाँ उद्योग धन्धों में अधिक आदमी लगें; इससे कृषि पर निर्भर रहनेवालों की संख्या कम हो जावेगी, तथा विदेशी माल की कीमत चुकाने के लिए यहाँ का जो धन हर वर्ष बाहर चला जाता है, वह यहीं रहेगा और यहाँ के लोगों की गरीबी कम करेगा और सुख समृद्धि बढ़ावेगा। देश में जागृति के भाव उत्पन्न हो जाने पर ऐसी बातों के समझने में कुछ देर नहीं लगती। निदान, उद्योग धन्धों का संगठन यहाँ सन् १८५० ई० से

हुआ। सरकार की व्यापार सम्बन्धी नीति अनुकूल न होते हुए भी, कपड़ा बुनने की कई मिलें चलने लगीं। लोहे फ़ौलाद आदि का माल तैयार करने के भी कई कारखाने खुल गये। इस औद्योगिक जागृति में जे० एन० टाटा (जेमसटजी नौशेरवान जी टाटा) ने अच्छा हिस्सा लिया। उन्होंने कपड़े के मिल और लोहे, फ़ौलाद तथा बिजली के कारखाने चलाने के अलावा बंगलोर में एक वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्था स्थापित की।

स्व० महादेव गोविन्द रानाडे आदि सज्जनों के परिश्रम से सन १८६० ई० में औद्योगिक सभा (इंडस्ट्रियल कान्फ्रेंस) की स्थापना की गयी! धीरे-धीरे इसकी प्रान्तीय शाखाओं के भी वार्षिक अधिवेशन होने लगे। इनका उद्देश्य औद्योगिक उन्नति के उपायों का विचार करना था। इनसे लोगों में स्वदेशी वस्तुएँ काम में लाने की भावना बढ़ी।

स्वदेशी और बहिष्कार—स्वदेशी आन्दोलन को सन् १६०५ ई० में बंगाल के दो टुकड़े किये जाने से बड़ी उत्तेजना मिली। यद्यपि इस समय का बहिष्कार आन्दोलन इङ्गलैंड वालों को, यहाँ के असंतोष से परिचित करने के लिए आरम्भ हुआ था, इसका प्रयोग समस्त विदेशी माल के विरुद्ध रहा, चाहे वह जर्मनी, अमरीका आदि किसी भी देश का हो। यह आन्दोलन पहले बहुत सफल होता हुआ मालूम हुआ, पर जोश में शुरू होने के कारण, इसकी नींव मजबूत न थी। कुछ समय बाद इसमें ढील आ गई। तो भी इससे लोगों का अनुभव बढ़ा और कुछ चीजों के कारखाने स्थायी रूप से चलने लगे। बहिष्कार-आन्दोलन जनता का एक अमोघ अस्त्र है। सन् १६१६ ई० में तथा उसके बाद जब राष्ट्रीय आन्दोलन समय समय पर, व्यापक

रूप से हुआ, तो उसका एक मुख्य अंग विदेशी-वस्तु-वहिष्कार रहा है। इसका लक्ष्य देश को, खासकर वस्त्र-व्यवसाय में स्वावलम्बी बनाना है। कपड़े पर खास ज़ोर देने का कारण यह है कि यह अन्य किसी पदार्थ से अधिक क़ीमत का यहाँ आता है, और इसकी ज़रूरत सब को होती है, तथा यह यहाँ सहज ही तैयार भी हो सकता है। इसके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी ('जायंट स्टाक') वाली कम्पनियों का उदय हुआ है। अधिकतर कम्पनियाँ परिमित देनदारी वाली ('लिमिटेड') हैं। दूसरे औद्योगिक देशों की तुलना में यहाँ इनका परिमाण बहुत ही कम है। इसी लिए यहां कल-कारखानों की दशा भी सन्तोषप्रद नहीं है। विशेष चिन्ता की बात तो यह है कि अधिकांश मिलें और कारखाने भारतीयों के नहीं हैं। रेल, ट्राम्वे, शराबख़ाने, सोने की खानें, सन, ऊनी वस्त्र, काग़ज़, और मिट्टी के तेल के कार-ख़ाने प्रायः अंगरेज़ों के हाथ में हैं। कोयले की खानें, चाय और क़हवे के खेत, नील, पीतल के कारख़ाने तथा बड़े-बड़े बैंक भी अधिकतर अंगरेज़ों के ही हाथ में हैं। भारतवासी केवल सूती कपड़ों की मिलों, फ़ौलाद, लोहा, चीनी और बर्फ़ के कारख़ानों, छापेख़ानों और आटा पीसने की कलों के मालिक हैं। जो लोग सर्वसाधारण के घरों में बहुत धन गड़े हुए होने का सपना देखते हैं, अथवा ज़ेवर पहिनने की प्रथा के आधार पर, इस देश की गिनती धनी देशों में करते हैं, वे भ्रम में हैं। तो भी देश में कुछ धन ऐसा है जो जनता का कोई हित नहीं कर रहा है; ऐसे धन को काम में लाने की आवश्यकता है। संगठन शक्ति द्वारा सहयोग या शराकत के कामों के चलाने की

बड़ी ज़रूरत है।

औद्योगिक कमीशन और आर्थिक जांच—पिछले योरपीय महाभारत (१९१४-१८) से भारतवर्ष को मंहगाई और दुष्काल भी मिला। नीचे की श्रेणी के लोगों की तो बात ही क्या, ऊँची श्रेणी के भी बहुत से गृहस्थों का निर्वाह कठिन हो गया। सरकार ने १९१६ में यहाँ की औद्योगिक दशा की जाँच करने के लिए एक कमीशन बैठाया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि सरकार को भविष्य में, यहाँ के उद्योग धन्धों में, ऐसा भाग लेना चाहिए, जिससे देश स्वावलम्बी हो। सन् १९२२ ई० में एक आर्थिक जांच समिति नियुक्त हुई। इसकी मुख्य सिफ़ारिशें ये थीं: (क) भारतीय उद्योग धन्धों की रक्षा के लिए, बाहर से आनेवाले माल पर कर लगाना चाहिए। (ख) भारत में बनने वाले माल पर कर न लगाना चाहिए। (ग) विदेशी पूंजी को भारत में बिना रुकावट आने देना चाहिए।

इस समय से भारत-सरकार अपनी उदासीनता छोड़ कर इन बातों पर ध्यान देने लगी। वह इतनी उदार कैसे हो गयी, इस विषय में, 'लेबर मंथली' के सम्पादक श्री० आर० पामीदत्त की पुस्तक ('वर्तमान भारत') में अच्छा प्रकाश डाला गया है। वास्तव में, सरकार के इस नीति-परिवर्तन का कारण यह था कि इंगलैंड में पूंजी बहुत बढ़ गयी थी, और उसे वहाँ औद्योगिक उन्नति में लगाने में लाभ की विशेष सम्भावना न रही थी। इस लिए वहाँ के पूँजीपतियों ने अपना कारोबार भारत में करने की सोची; यहाँ कच्चा माल तथा सस्ती मज़दूरी पाने की तो सुविधा थी ही, केवल कुछ राजनैतिक सुविधाओं की जरूरत थी, उनके लिए यहाँ व्यवस्था कर ली गयी। नीति-परिवर्तन का दूसरा कारण यह था कि मुक्त द्वार व्यापार-नीति का

भारतवर्ष की जनता और खासकर व्यापारी समुदाय ने घोर विरोध किया था। और, यहाँ की बनी वस्तुओं पर कर लगाये जाने से सारा देश यह समझने लगा था कि ब्रिटिश सरकार भारतीय व्यवसाय पनपने देना नहीं चाहती। जनता की इस धारणा को कुछ अंश में बदलना आवश्यक था। इसी विचार से सन् १९१९ ई० के शासन-सुधारों में यह निश्चय किया गया कि भारत-सरकार और व्यवस्थापक सभा दोनों जिस नीति से सहमत हों, उसे काम में लावें; भारत-मन्त्री उसमें हस्तक्षेप न करे। जो हो, यहाँ की सरकार के नीति-परिवर्तन से अंगरेजों को फायदा ही रहा।

संरक्षण, और साम्राज्यान्तर्गत रियायत नीति—आर्थिक कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार भारत-सरकार ने यहां 'टेरिफ़ बोर्ड' की स्थापना की, जिसमें भारतीयों को भी स्थान दिया गया। इस बोर्ड की सिफ़ारिशों के अनुसार क्रमशः लोहे, फ़ौलाद के सामान, काग़ज़, कपड़े और चीनी को संरक्षण दिया गया, अर्थात् इन वस्तुओं की आयात पर ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी इन चीजों से सस्ती न रह जायँ, कुछ मंहगी ही हों। सन् १९२६ ई० में भारत में बननेवाले रुई के माल पर से कर उठा दिया गया। परन्तु, बत्तीस वर्ष तक इस कर के लगे रहने से भारतीय वस्त्र-व्यवसाय की जो भारी हानि हुई, वह तो हो ही चुकी। इसका इलाज करने की बात ब्रिटिश सरकार ने न सोची।

सन १९३० ई० में इंगलैंड से आनेवाले रुई के सामान पर १५ प्रतिशत, और ग़ैर-ब्रिटिश अर्थात् अन्य देशों से आने वाले सामान पर ५ प्रतिशत अधिक, अर्थात् २० प्रतिशत कर लगाया गया। पीछे यह कर इंगलैंड के माल पर २५ प्रतिशत और गैर-ब्रिटिश माल

पर तीस प्रतिशत बैठाया गया। यह बात साम्राज्यान्तर्गत रियायत नीति के अनुसार थी। इस का आशय यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य में जो देश हैं, वे आपसी व्यापार में खास रियायत करें, एक दूसरे की आयात निर्यात पर, गैर-ब्रिटिश माल की अपेक्षा, कम कर लगावें। ओटावा (कनाडा) में, सन १९३२ में साम्राज्य-परिषद् हुई, उसमें तीन वर्ष के लिए इस विषय का समझौता हुआ, परन्तु यह भारतवर्ष के लिए बहुत हानिकर था; इसका यहाँ घोर विरोध हुआ। बात यह है कि यहाँ से इंगलैंड और अन्य देशों को कच्चा माल जाता है, जिसकी आयात पर कोई औद्योगिक देश कर नहीं लगाता। इस लिए भारतवर्ष के माल को इंगलैंड या उसके उपनिवेशों में रियायत मिलने से इस देश को कोई लाभ नहीं होता। अब भारतीय आयात की बात लीजिए। यहाँ दो-तिहाई से अधिक माल ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर से आता है, इस पर अधिक कर लगाने से भारतीय जनता के लिए वह माल मंहगा हो जाता है, और देश को हानि होती है। इस प्रकार साम्राज्यान्तर्गत रियायत की नीति से भारतवर्ष को कुछ लाभ नहीं है। भारतीय व्यवस्थापक सभा ने सन् १९३६ ई० में ओटावा के समझौते को रद्द करने का प्रस्ताव पास किया था, लेकिन भारत-सरकार ने कोई नया समझौता होने तक उसे ही बनाये हुए है।

भारतीय लोकमत संरक्षण-नीति को बढ़ाते रहने के पक्ष में रहा है। भारत-सरकार ने सन् १९२२ ई० से इस ओर ध्यान दिया, पर बहुत धीमी गति से क़दम बढ़ाया। इधर कुछ समय से वह उसमें भी कमी कर रही है। टैरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिश होते हुए भी उसने शीशे के व्यवसाय का संरक्षण न किया। सन १९३६ ई० में सरकार ने

इंगलैंड से भारत में आनेवाले सादे और रंगीन सूती कपड़े पर संरक्षण-कर पच्चीस प्रति सैकड़ा से घटा कर वीस प्रति सैकड़ा कर दिया। साथ ही उसने टेरिफ़ बोर्ड को स्थाई रूप से रखना बन्द कर दिया। आवश्यकता होने पर वह किसी विशेष उद्योग धन्धे के लिए उसे नियुक्त कर देती है। सन् १९३७ ई० में शक्कर के लिए बोर्ड की नियुक्ति की गयी थी; उसकी रिपोर्ट सरकार के अनुकूल न होने से, प्रकाशित नहीं की गयी। यह साफ़ तौर से ब्रिटिश माल का पक्षपात है; और है, भारत के उद्योग-धन्धों के संरक्षण के विरुद्ध, व्यापार-नीति। आवश्यकता है कि सरकार संरक्षण-नीति का अवलम्बन जारी रखे; समस्त विदेशी तैयार पदार्थों की आयात पर, एवं यहाँ से बाहर जाने वाले कच्चे पदार्थों पर भी खूब कसकर कर लगावे, जिससे विदेशी माल यहाँ वहुत अधिक मंहगा होजाने के कारण उसकी आयात कम हो, और स्वदेशी उद्योग धन्धों को उत्तेजना मिले।

व्यापार-ज्ञान—भारतीयों को व्यापार-ज्ञान की बड़ी ज़रूरत है। उन्हें केवल कमीशन या दलाली लेकर निर्वाह करने वाला नहीं होना चाहिए। उन्हें यह जानना चाहिए कि भारतवर्ष की आवश्यकता की कौन-कौन सी वस्तु कहाँ तैयार होती है, वे चीज़ें यहाँ किस प्रकार तैयार की जा सकती हैं, भारतवर्ष का कौन सा पदार्थ संसार की दूसरी मंडियों में नफ़े से बेचा जा सकता है; यहाँ से केवल कच्चे माल के कुछ जहाज हर साल विदेशों को भेज देना और विदेशी माल यहाँ खपा देना, इस देश के लिए कितना हानिकर है, यहाँ के उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए क्या क्या साधन और परिस्थिति अनुकूल होगी। आम तौर पर यह कहा जाता है कि भारतवर्ष का विदेशों से व्यापार बढ़ता जा रहा है—परन्तु इस व्यापार की वृद्धि से हमें लाभ

है या हानि, यह सोचने की बात है।

सन् १९३४ ई० से यहाँ हाट-व्यवस्था के लिए, भारत-सरकार द्वारा एक केन्द्रीय विभाग की स्थापना हुई है; और कुछ स्थानों में फल, अंडों, चमड़े और खालों के सम्बन्ध में किस्में निर्धारित करने के केन्द्र खोले गये हैं। सन १९३७ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने खेती की पैदावार की कक्षा निर्धारित करने और निशान लगाने (ग्रेडिंग और मार्किंग) का क़ानून पास किया गया है। सरकारी विभाग का काम उत्पादकों को भिन्न-भिन्न स्थानों के बाज़ारों की परिस्थिति बताना और यह सुझाना है कि कहा कौन सी वस्तु की मांग घटने या बढ़ने की संभावना है। इस विभाग को सर्व साधारण के सम्पर्क में आने की बड़ी आवश्यकता है।

विनिमय की दर—विदेशी व्यापार पर विनिमय की दर का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस समय भारत-सरकार ने यहाँ के रुपये का मूल्य एक शिलिंग छः पैंस, अर्थात् १८ पैंस निर्धारित कर रखा है; पहले यह समय-समय पर बदलता रहा है; कुछ समय हुआ, यह १६ पैंस था। भारतीय नेता चाहते हैं कि रुपये का मूल्य गिरा कर फिर १६ पैंस अथवा इससे भी कम कर दिया जाय। वर्तमान बढ़े हुए भाव में हमें विलायत से माल मंगाने में तो लाभ है, एक रुपया देकर वहाँ का १८ पैंस का माल मिल जाता है (पहले १६ पैंस का ही मिलता था), इसी तरह रुपया विलायत के कारख़ानों में लगाने या बैंकों में जमा कराने में भी लाभ है (परन्तु इससे यहाँ रुपये की कमी हो जाती है)। मतलब यह, कि विलायत में भुगतान करने में लाभ है। परन्तु हमें अपना माल वहाँ भेजने में हानि है। विलायत वालों को उसके दाम (शिलिंग के हिसाब से) अधिक देने पड़ते हैं, इसलिए वे

हमारा माल कम मंगाते हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि विनिमय की दर बढ़ने से (जैसी कि इस समय है), हमारे शिल्प-व्यवसाय आदि को बहुत हानि पहुँचती है।

भारतवर्ष के बैंक—देश की आर्थिक उन्नति का बैंकों से बहुत सम्बन्ध रहता है। योरप, अमरीका आदि जिन राज्यों में प्रधान केन्द्रीय बैंकों को नोट चलाने का भी अधिकार होता है, वहाँ के बैंक आवश्यकतानुसार नोटों या ऋण का परिमाण बढ़ा-घटा कर लोगों की क्रय-शक्ति (चीज़ें खरीदने की सामर्थ्य) को बढ़ा या घटा सकते हैं। इस प्रकार वे वस्तुओं के मूल्य का नियंत्रण करते हैं, और उसे बहुत-कुछ स्थिर रखते हैं। इससे व्यापार को बड़ा लाभ पहुँचता है। हाँ, यदि ऐसे बैंक देश के हित का समुचित ध्यान न रख कर अपना अथवा किसी दूसरे का स्वार्थ सिद्ध करने लगें तो इनसे हानि भी बहुत हो सकती है। भारतवर्ष में इम्पीरियल बैंक के अतिरिक्त एक्सचेंज (विनिमय) बैंक, जायन्ट स्टाक (मिश्रित पूंजी के) बैंक, तथा सहकारी बैंक हैं। देश की विशाल जनता और क्षेत्र को देखते, ये बैंक बहुत कम हैं। फिर, इम्पीरियल बैंक को भी नोट चलाने का अधिकार न होने से, यहाँ बैंक सम्बन्धी व्यवस्था अब तक और भी कम उपयोगी थी। सन् १९३४ में रिज़र्व बैंक की स्थापना हुई, इसे नोट चलाने का भी अधिकार है और इसके द्वारा वस्तुओं का मूल्य और सूद की दर का नियन्त्रण होता है। परन्तु इस बैंक का सञ्चालन और नीति-निर्धारण भारतीयों के द्वारा न होकर लन्दन के बैंक-आफ़-इंगलैंड द्वारा होने से, इससे भारतवर्ष को लाभ के मुकाबले, हानि ही अधिक होती है।

कारख़ानों में मज़दूरों की दशा—हमारी औद्योगिक उन्नति का उद्देश्य देश का कुछ धन बढ़ जाना ही न होना चाहिए। यदि मुट्ठी भर लखपती या करोड़पतियों की संख्या सवाई ड्योढ़ी ही हो गयी तो इससे विशेष हित न होगा; सम्भव है, हानि ही हो। अस्तु, हमें कल-कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की दशा का विचार करना चाहिए, उनकी नैतिक तथा शारीरिक दशा कैसी है, उसमें क्या सुधार हुआ, तथा होने की आवश्यकता है। वर्तमान दशा में यहाँ मज़दूरों के सम्बन्ध में एक क़ानून है, जिससे उनके काम करने के घंटों की संख्या निर्धारित है, तथा कारख़ानों में सफ़ाई रोशनी आदि का यथेष्ट प्रबन्ध करने, और मज़दूरों को चोट-चपेट न लगने देने की कुछ व्यवस्था की गयी है। परन्तु, यह क़ानून बहुत अधूरा है। इससे मज़दूर बहुत अरक्षित अवस्था में रहते हैं। उनके लिए यथेष्ट स्थान की व्यवस्था नहीं होती, उन्हें अपने बाल बच्चों के साथ तंग, अंधेरे और गन्दे मकानों में रहना होता है। ये दुःख का जीवन बिताते हैं, और कम उम्र में ही मर जाते हैं। यह परिस्थिति चिन्तनीय है। समय-समय पर क़ानून द्वारा कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया गया, पर अभी तक इस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है; और, ज़्यादातर मज़दूर स्वार्थी और लोभी कारख़ाने वालों की दया के ही आश्रित रहे। उनका सङ्गठन सफल नहीं हुआ। उनके मार्ग में सरकार भी बाधक ही रही। हाँ, सन् १९३७-३९ में कांग्रेसी सरकार वाले प्रान्तों में यह बात नहीं रही, तो भी स्थिति सन्तोषप्रद नहीं हुई है। X

मजदूरों का संगठन— मजदूरों के संगठन का काम कुछ विशेष रूप से सन् १९१८ के आस पास शुरू हुआ। उस समय जी. आई. पी. रेलवे मजदूर-संघ,

अहमदाबाद लेबर एसोसियेशन, नार्थवेस्टर्न रेलवे यूनियन, कानपूर मज़दूर-सभा आदि बनीं। (पिछले) योरपीय महायुद्ध के कारण चीज़ों का भाव बढ़ गया था, और मिलों में, खासकर सूती मिलों में मुनाफा भी खूब हुआ था, तो भी मज़दूरों की वेतन और दूसरी सुविधाएँ नहीं बढ़ी थीं। इसलिए मज़दूरों की सभाएँ बनना स्वाभाविक था। सन् १९२० में नागपूर में अखिल भारतीय मज़दूर-संघ (ट्रेड यूनियन) की स्थापना हुई। इसके पहले अध्यक्ष लाला लाजपतराय थे। सन् १९२७ तक इसके डेढ़ लाख सदस्य बन गये थे। १९२८ में जब यहाँ शासन-सुधारों के सम्बन्ध में साइमन कमीशन आया तो मज़दूरों ने उसके विरोध में काले झंडों से ज़ोरदार प्रदर्शन किया। सरकार ने समय-समय पर मज़दूरों का खूब दमन किया, पर उनका आन्दोलन दब न सका। हाँ, इनमें आपस में फूट होने के कारण, या नेताओं में मतभेद की वजह से, उनकी हड़तालें आदि कई बार असफल रहीं। सरकार ने पूँजीपतियों के सहयोग से समय-समय पर इनके विरुद्ध कानून बनाये। सन् १९३१ में काँग्रेस ने नागरिकों के मूल अधिकारों में मजदूरों के अधिकार स्वीकार कर लिये और घोषित कर दिये। अब तो काँग्रेस किसान-मज़दूर-प्रजा-राज्य का समर्थन करती है। मज़दूरों को चाहिए कि देश-हित का ध्यान रखें और भारतवर्ष की आज़ादी और तरक्की के लिए काँग्रेस की शक्ति बढ़ाते रहें। इस समय मज़दूर-संघ के कई लाख सदस्य हैं।

समाजवाद—भारतवर्ष के कितने ही विचारवान आदमियों का यह मत है, और यह मत धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है कि समाज की यथेष्ट आर्थिक उन्नति होने के लिए यह जरूरी है कि खेत, कल-कारखाने आदि, पैदावार के साधनों, की मालिक सरकार हो; कोई खास आदमी या कम्पनी आदि नहीं। हरेक आदमी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम करे, और सब की मेहनत से जो धन पैदा हो, उसे सरकार उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरण करे, इस तरह सब के खाने पीने, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का इन्तजाम हो। ऐसी व्यवस्था रूस में है, इसे समाजवाद कहते हैं।

प्रारम्भ में मनुष्य प्रायः समान अधिकार वाले थे। मालिक और नौकर, पूंजीपति और मज़दूर, ज़मींदार और किसान का भेद भाव न था। उत्पत्ति के साधन—भूमि, बीज, हल आदि सब कृषकों के पास थे, कारीगर अपनी छोटी-सी दूकान में मामूली औज़ारों, और सुलभ पूंजी से अपना काम करता था। अब भाप और बिजली आदि से चलनेवाली मशीनों का आविष्कार हो जाने से बड़े-बड़े कल-कारख़ानों का उपयोग होने लगा है। इनके सामने उत्पत्ति के पुराने ढंग टिक नहीं पाते। इस तरह वर्तमान औद्योगिक क्रान्ति ने समाज को दो भागों में बांट दिया, एक भाग पूँजीपति, ज़मींदार आदि का; दूसरा भाग मज़दूर और किसानों का। यह दूसरा भाग प्रायः सब जगह दलित और शोषित है। इसके सुधार के लिए समाजवादी नेता उद्योग-धन्धों तथा भूमि का राष्ट्रीयकरण, यानी इन्हें राष्ट्र की बना देना चाहते हैं, जिससे न तो समाज की दो श्रेणियां रहें, और न उनका संघर्ष ही हो। केवल एक श्रेणी हो, सब ही व्यक्ति श्रमजीवी हों, और सब की ही पूंजी से कारखाने आदि चलें।

दस्तकारियों का पुनरुद्धार—इसके विपरीत, कुछ दूसरे सज्जनों का मत यह है कि श्रमजीवियों का असली हित तभी होगा, जब वे कल-कारख़ानों में दासता का जीवन न बिताकर, प्राचीन काल की तरह स्वतंत्र रूप से श्रम करनेवाले हों अर्थात् बड़ी-बड़ी मशीनों वाले कल कारख़ानों को न बढ़ा कर, छोटी मात्रा की उत्पत्ति या दस्तकारियों में लगें; इससे श्रमजीवी अपने घर में, अपने परिवार के आदमियों के साथ रहेगा, वह रूखी-सूखी रोटी खाकर भी सन्तुष्ट और सुखी रहेगा, वह मद्यपान, विलासिता आदि के प्रलोभनों में फँसने से बचेगा। उसका शरीर तन्दुरुस्त होगा और उसकी आत्मा भी

बलवान होगी। इसके अलावा, देश में धन का समान वितरण होने में सहायता मिलेगी; राष्ट्र उन व्याधियों से बचा रहेगा, जो कुछ थोड़े से आदमियों के बहुत ज्यादह धनवान, और असंख्य आदमियों के रोटी कपड़े से भी मोहताज, होजाने से होती हैं।

हाथ की कताई बुनाई—दस्तकारियों में हाथ की कताई-बुनाई का काम मुख्य है। दूसरों के हाथ बेचने के लिए न सही, खुद अपने लिए, और अपने परिवार के वास्ते कपड़े की आवश्यकता सबको होती है। यदि आदमी अपने अवकाश के समय में इस आवश्यकता को पूरी कर लिया करें तो वे एक हद तक स्वावलम्बी हो सकते हैं। इससे यह भी लाभ होगा कि देश की बहुत-सी रक़म न तो विदेशी मिल-मालिकों के पास जायगी, और न उन देशी पूँजीपतियों को ही मिलेगी, जो विदेशों से मशीनरी या दूसरा सामान मंगाते हैं, और उनसे माल पैदा करके खूब मुनाफ़ा कमाते हैं, और ऐयाशी का जीवन बिताते हैं।

राष्ट्रीय जागृति में खादी के धंधे के पुनरुत्थान की ओर नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। इसका विशेष संगठित प्रयत्न सन् १९२५ ई० से हुआ, जब कि महात्मा गाँधी की प्रेरणा से यहाँ अखिल भारतवर्षीय चर्खा-संघ की स्थापना हुई। स्थान-स्थान पर इसके सैकड़ों खादी के केन्द्र हैं। इस धन्धे द्वारा अनेक जुलाहों, बढ़ई, लुहार, रंगसाज़ और व्यापारियों आदि को काम मिल रहा है। ग्राम-संगठन का भी अच्छा कार्य हो रहा है।

अन्य उद्योग-धन्धे; ग्राम-उद्योग-संघ—हाथ की कताई बुनाई एक महान उद्योग है। लेकिन देश में ऐसे दूसरे भी उद्योग-धन्धे हैं, जो यहाँ के लाखों करोड़ों आदमियों को आजीविका देने वाले हैं, और जिनके संगठन की बड़ी आवश्यकता है। इस ओर, आवश्यक

जानकारी प्राप्त करके, काँग्रेस ने सन् १९३४ के अन्त में ध्यान दिया। वर्धा (मध्यप्रांत) में 'अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में हुई। इसका उद्देश्य है—ग्रामों का पुनः संगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना, तथा उनमें आवश्यक सुधार करना और ग्रामनिवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने की चेष्टा करना। संघ की संरक्षकता में ये ग्रामोद्योग या इनके प्रयोग चल रहे हैं—१—धान से चावल निकालना, २—आटा पीसना, ३—गुड़ बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना, ८—दूधशाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढाई, ११—कम्बल बनाना, १२—रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज़ बनाना, १६—चटाई बनाना, १७—कंघियाँ बनाना, १८—चाकू कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, २०—पत्थर की कारीगरी, २१—मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना, और चमड़ा तैयार करके उसकी तरह-तरह की चीज़ें बनाना।

बेकारी का हाल—अभी दूसरे उन्नत औद्योगिक देशों से भारतवर्ष बहुत पीछे है। तो भी यहाँ बेकारी ने भयङ्कर रूप धारण किया हुआ है। बेकारी का एक मुख्य कारण यह है कि जिस काम को करने के लिए पहले साधारण तौर से सौ सवा सौ आदमियों की आवश्यकता होती थी, उसे पूँजीपति अब मशीनों की सहायता से केवल आठ दस आदमियों से करा लेते हैं; बाक़ी आदमी बेकार हो जाते हैं, और भूखे मरते हैं। समाजवादी इसका यह हल बतलाते हैं कि मशीनों का उपयोग कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के स्वार्थ के लिए न हो, सब

आदमी उनसे थोड़े-थोड़े घण्टे काम करके, अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। इससे मनुष्यों को अपनी मानसिक उन्नति आदि के लिए अधिक अवसर मिलेगा। परन्तु इसमें यह शंका होती है कि हमारे यहाँ इतने साधन और पूँजी नहीं है, जो इतनी मशीनें चालू कर सकें! फिर मशीनें अधिकतर विदेशों से आती हैं, और इस बिचार से वे हमें औद्योगिक उन्नति में परावलम्बी रखती हैं। योरप अमरीका की वैज्ञानिक प्रगति को देखते हुए हम अभी बहुत समय तक, मशीनों के लिए परावलम्बी रहते दिखाई देते हैं। इसके अलावा, मशीनों को काम देने से तो, मनुष्यों की बेकारी और भी बढ़ेगी, न कि घटेगी। हमें अपने सामने उन देशों की परिस्थिति नहीं रखनी चाहिए, जहाँ जनसंख्या कम है; हमारे देश में तो असंख्य आदमी काम चाहते हैं, न कि अवकाश। अस्तु, बेकारी दूर करने का दूसरा उपाय यह है कि घरेलू उद्योग धन्धों की उन्नति की जाय। खेती करने वाले तो साल में कई महीने बेकार रहते हैं। ऐसे समय में, उन्हें चाहिए कि अपनी सुविधानुसार खेती में तरकारी (शाक) आदि पैदा करें, मूँज या सन की रस्सियां बटें, टोकरी और चटाई या मूढ़े बनावें, कपास ओटें, सूत कातें या कपड़ा बुनने आदि का काम करें। दस्तकारियों के सम्बन्ध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

कम-से-कम मज़दूरी या जीवन-वेतन—इस अध्याय में हमने उन उपायों पर विचार किया है जिनको अमल में लाने पर यहाँ जनता की आवश्यकताओं के अनुसार पर्याप्त माल तैयार हो सकता है। परन्तु बहुत सा माल तैयार होने से भी क्या लाभ, यदि लोगों में उसे ख़रीदने की शक्ति न हो; सर्वसाधारण के अभाव बने ही रहें। अस्तु, आवश्यकता है कि हमारे यहाँ के साधारण श्रेणी के मनुष्यों की

आर्थिक दशा अच्छी हो। उन्हें वेतन काफ़ी मिले; वे कम से कम अपने भोजन-वस्त्र की सामग्री तो खरीद सकें। परन्तु यहाँ वेतन या मज़दूरी देनेवाले इस बात का विचार नहीं करते कि किसी मज़दूर को कितने धन की जरूरत होती है। ज्यादातर मालिक केवल यह सोचते हैं कि कम-से-कम कितने पैसे देने से उनका काम निकल सकता है; उतने पैसों से मज़दूरों का भरण-पोषण हो या न हो। ऐसी स्थिति में, सन् १६३५ ई० में, म० गांधी की प्रेरणा से अखिल भारत ग्राम उद्योग-संघ और चर्खा-संघ ने मज़दूरों के न्यूनतम वेतन निर्धारित करने का विषय उठाकर सचमुच बड़े साहस का काम किया। इन संस्थाओं ने पहले आठ घंटे की दैनिक मज़दूरी कम से कम तीन आने देनी आरम्भ की, और इसे धीरे-धीरे आठ आने तक बढ़ाने का विचार किया। कुछ लोगों को यह दर बहुत ही कम जची। पर वे भूल गये कि अनेक स्थानों में स्त्रियों को, तथा लड़कों को प्रति दिन डेढ़-दो आने ही मिलते थे, और देश में अनेक बेकार आदमी काम की खोज में रहते थे, उन्हें उस समय इतना भी नहीं मिल पाता था। हाँ; अब बात दूसरी है। इस समय (सन् १६४५) कुछ आदमी लड़ाई में, या लड़ाई का सामान बनाने आदि में, लगे हैं; इस लिए बेकारी कुछ कम है; और रुपये की कीमत कम रह जाने से मज़दूरी की दर बढ़ी हुई है।

श्री० किशोरीलाल जी मश्रूवाला का मत है कि एक बालिग पुरुष के हर रोज औसतन ७ घंटे, और बालिग स्त्री के हर रोज औसतन ५ घंटे काम करने पर उन्हें एक आदमी के साधारण अच्छी तरह निर्वाह योग्य व्यय का क्रमशः तिगुना और दुगना वेतन मिलना चाहिए। बात यह है कि आम तौर पर किसी देश की जनसंख्या का चालीस फी सदी हिस्सा काम करने वाली जनता मानी जाती है; अथवा, एक औसत परिवार पाँच आदमियों का माना

जाता है, जिनमें से दो कमाने वाले होते हैं, और तीन उनके आश्रित। स्त्री को आम तौर पर आदमी से कम मजूरी मिलती है। पर यह न्याय की बात नहीं है; उसका काम पुरुष से न तो हलका ही है, और न कम ही है। इस तरह दो आदमियों को ५ आदमियो की सभी उचित मांगों की पूर्ति के योग्य वेतन मिलनी चाहिए। यदि हम रविवार, त्योहार, बीमारी तथा आकस्मिक (इत्तफाकिया) छुट्टियों की गणना करें तो क्रमशः ७ तथा ५ घंटे हर रोज का औसत क्रमशः नौ और साढ़े छः घंटे प्रतिदिन काम करने से पड़ता है। इस तरह हर एक आदमी को दो घंटे के हलके परिश्रम अथवा एक घंटे के कड़े परिश्रम के बाद पूरा भोजन प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। उसके काम के बाकी घंटे भोजन के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं के लिए, तथा उसके आश्रितों के वास्ते किये जानेवाले परिश्रम के लिए, माने जाने चाहिएँ।

उद्योग-धंधों की उन्नति और सरकार—उद्योग-धंधों की वृद्धि के बारे में हमने अपने 'भारतीय अर्थशास्त्र' में खुलासा लिखा है। घरू और छोटे उद्योग धंधों की उन्नति के मुख्य उपाय ये हैं—औद्योगिक शिक्षा, औद्योगिक सम्मेलन, औद्योगिक प्रदर्शनी या नुमायश, तैयार माल खरीद कर प्रोत्साहन देना। इन कामों में जनता और सरकार दोनों के सहयोग की ज़रूरत है। बड़े उद्योग धन्धों में एक मुख्य प्रश्न पूंजी का रहता है। सरक़ार उसके लिए बाजार दर से कम व्याज पर रुपया उधार दे सकती है, या कुछ ऐसी रकम दे सकती है, जिसे पीछे वापिस न ले, या उसके बदले उतनी कीमत का तैयार माल ले ले। सरकारी सहायता का एक रूप यह भी हो सकता है कि कारखानेवालों को सरकार कुछ मशीनें किराये पर दे; कुछ अर्से तक किराया दे चुकने पर मशीनें कारखानेवालों की ही हो जायँ। भारतवर्ष में सरकार ने ये बातें बहुत कम की हैं। हाँ, सन् १९३७-३९ में जिन प्रान्तों में कांग्रेस का शासन रहा; वहाँ प्रान्तीय सरकारों ने औद्योगिक उन्नति और मज़दूरों के कुशल क्षेम की ओर भरसक ध्यान दिया।

उद्योग-धंधे और युद्ध—सन् १६३६ से दूसरा योरपीय महायुद्ध शुरू हो गया। युद्ध के समय देश में विदेशी माल आना बहुत कुछ बन्द हो जाता है, और जनता को स्वदेशी माल से ही काम चलाना पड़ता है। इससे देश के उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अलावा युद्ध-काल में कई ज़रूरतें बढ़ जाती हैं, जैसे हथियार, मोटर, जहाज, हवाई जहाज, सैनिकों की वर्दी का कपड़ा, कम्बल, बोरे, थैले और लड़ाई का तरह तरह का दूसरा सामान आदि। यदि सरकार की नीति अनुकूल हो तो ये चीज़ें विदेशों से न मंगा कर स्वदेश में ही बनायी जा सकती हैं। भारतीय व्यवसायियों ने हिम्मत करके इस अवसर से लाभ उठाने की कोशिश की। उन्होंने जहाँ तक उनसे बन आया, उद्योग धंधों के काम को बढ़ाया और नये व्यवसाय भी शुरू किये। पर उन्हें सरकार का सहयोग, जैसा चाहिए था, न मिला। यह ठीक है कि सरकार ने यहाँ कारखानों में सेना के लिए कुछ सामान बनवाया और खरीदा। लेकिन यह ज्यादातर उसी दशा में हुआ, जब वह ऐसा करने के लिये मजबूर हुई। अगर वह पहले से ही इस ओर ध्यान देती और पूरे तौर से मदद करती तो युद्ध के समय में भारतीय उद्योग-धंधों की बहुत अधिक उन्नति हो जाती; यहाँ कितनी ही चीजें ऐसी बनने लगतीं कि उन्हें पीछे विदेशों से मंगाने की ज़रूरत न रहती। इस तरह, औद्योगिक उन्नति का जो विशेष अवसर उपस्थित हुआ था, उसका सरकार ने काफ़ी उपयोग न होने दिया। यही नहीं, युद्ध की आड़ में सरकार ने यहाँ के व्यापारियों का बड़ा अहित किया। ब्रिटिश सरकार ने तटस्थ देशों से इंगलैंड का व्यापार बढ़ाने के लिए 'यूनाइटेड किंगडम कामर्शल कारपोरेशन' नाम की संस्था स्थापित की। इस संस्था का कार्यक्षेत्र पीछे भारत ही हो गया। यहाँ

रिजर्व बैङ्क, रेलों तथा भारत-सरकार के सब अधिकारियों ने, जिला-मजिस्ट्रेट से लेकर 'सप्लाई' (रसद) विभाग के मेम्बर तक ने, इसे तरह तरह की सुविधाएँ दीं। यहां तक कि यह ईस्ट इण्डया कम्पनी का ही दूसरा रूप बन गयी। इसने गेहूँ, चावल, चीनी आदि भारतवर्ष से से दूसरे देशों को भेजकर खूब नफ़ा कमाया। इधर भारतवर्ष में ये चीज़ें बहुत कम रह गयीं, और बहुत महँगी हो गयीं। इससे लोगों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा।

आर्थिक योजनाएँ—बहुत समय से यह अनुभव किया जा रहा है कि भारतवर्ष की गरीबी दूर करने और नागरिकों की आमदनी तथा देश की उपज बढ़ाने की बड़ी ज़रूरत है। पिछले वर्षों में इसके लिए कई योजनाएँ बनायी गयीं। कांग्रेस द्वारा स्थापित राष्ट्रीय योजना (नेशनल प्लैनिङ्ग)-कमेटी ने सन् १६३६-४१ में श्री० पंडित जवाहर-लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक विशाल योजना का काम किया था, पर भारतवर्ष की राजनैतिक बाधाओं ने उसे पूरा न होने दिया। इसे छोड़कर, पहले पहल योजना बनानेवालों में सर विश्वेश्वर रैया का नाम मुख्य है। फ़िर तो कई योजनाएँ बन चलीं।

टाटा-बिड़ला योजना—इस योजना को भारतीय उद्योगपतियों ने बनाया है। इसमें पन्द्रह साल के लिए दस हजार करोड़ रुपये की आवश्यकता बतायी गयी है—उद्योग धंधे, ४४८० करोड़; खेती, १२४० करोड़; यातायात (रेल सड़क आदि), ६४० करोड़; शिक्षा, ४६० करोड़; स्वास्थ्य, ४५० करोड़; मकान आदि, २५०० करोड़; विविध, २०० करोड़। इस योजना से जनता का ध्यान आर्थिक समस्याओं की ओर खिंचा है। इसका मुख्य लक्ष्य पूंजी-पतियों की उन्नति है, यों इसमें खेती और ग्रामोद्योगों की चर्चा अवश्य की गयी है। इस योजना का उद्देश्य हरेक व्यक्ति की औसत आमदनी पंद्रह साल में तीन गुनी करना बताया गया है। युद्ध से पहले के बाजार-भाव को आधार मान कर यह आमदनी हर साल १३५ रुपया होगी; और देश की

कुल राष्ट्रीय उपज होगी, ६६०० करोड़ रुपये, जो कि युद्ध-पूर्व से तीन गुनी है। यह साफ कह दिया गया है कि इस योजना को राष्ट्रीय सरकार ही अमल में ला सकती है।

जन-योजना--एक योजना श्री० एम. एन. राय की है। इसका नाम 'पीपल्स प्लैन' या जन योजना है। यह समाजवाद के सिद्धान्तों के आधार पर बनायी गयी है। इसमें खेती की तरफ, बम्बई योजना से अधिक ध्यान दिया गया है। उद्योग-धंधों को पूंजीवादी ढंग से बढ़ाने के बजाय उनके राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव किया गया है। इस योजना की ओर लोगों का विशेष ध्यान नहीं गया।

सरकारी योजनाएँ—यहाँ केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने भी खूब योजनाएँ बनायी हैं। उन योजनाओं का खास उद्देश्य यही मालूम होता है कि युद्ध के बाद, जो सिपाही सेना के काम से छुट्टी पावें, उन्हें खेती, उद्योग-धन्धों या शिक्षा आदि के काम में लगा दिया जाय, जिससे उन लोगों को संतोष हो और सरकारी कर्मचारियों और सरकार के आसरे रहनेवालों की संख्या बढ़ने के साथ यहाँ नौकरशाही की ताकत बढ़े।

इस वर्ष (१९४५) भारत-सरकार ने बताया है कि वह लोहा, पीतल, रुई, ऊन, सीमेंट चीनी, बिजली और कोयले आदि के बीस बुनियादी उद्योगों का नियन्त्रण करने या इनका सञ्चालन खुद ही करने की सोच रही है। भारत-सरकार के जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी न होते हुए उद्योग-धंधों पर नियंत्रण करने के निश्चय का देश में खूब विरोध हुआ है।

गांधी योजना—श्री० श्रीमन्नारायण अग्रवाल एम० ए० ने महात्मा गाँधी के लेखों और पुस्तकों का अध्ययन करके तथा खुद महात्मा जी से घंटों विचार-विनिमय करके एक 'गाँधी योजना' तैयार की। इस योजना के चार आदर्श हैं—सादगी, अहिन्सा (शोषण न होना), शारीरिक श्रम का गौरव, और मानवी गुणों के आधार वाली देहाती सभ्यता। इसकी धुरी किसान और देहाती कारीगरी है। इसलिए सब से अधिक महत्व खेती को दिया गया है, उसके बाद ग्रामोद्योगों की आवश्यकताओं पर ज़ोर दिया गया है। योजना में कहा गया है कि ग्रामोद्योगों का सङ्गठन सहकारी समितियों द्वारा किया जाय,

जिससे उनमें पूँजीपतियों को स्थान न रहे। देश की आर्थिक रचना में बिजली, यातायात, लोहे और कोयले के धंधे आदि बुनियादी उद्योगों को भी उचित स्थान दिया गया है। लेकिन यह बिल्कुल साफ कर दिया गया है कि इन उद्योगों का सञ्चालन राज्य करेगा; पूँजीपति नहीं। उनकी व्यवस्था राष्ट्र के हित के लिए की जायगी, धनवानों के फायदे के वास्ते नहीं। इस योजना में शिक्षा, स्वास्थ्य और अनुसंधान आदि का भी समावेश है। इस योजना का आदर्श ग्राम्य सभ्यता होने के कारण इसमें ग्राम-पंचायतों या ग्राम-संघों की स्थापना पर बहुत ज़ोर दिया गया है।

विशेष वक्तव्य—अभी औद्योगिक कार्यों को बहुत बढ़ाने की आवश्यकता है। गांव-गांव में, और बड़े नगरों के प्रत्येक भाग में अच्छी संस्थाएँ होने का गुंजायश है। यद्यपि कपड़े सम्बन्धी दस्तकारियों का महत्व विशेष है, और रहेगा, तथापि अन्य दस्तकारियों की ओर भी हमें यथेष्ट ध्यान देना होगा। हमें चाहिए कि जहाँ तक हो सके, हम स्वावलम्बी हों, अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों का आसरा न तकें, और साथ ही कल-कारख़ाने उन्हीं वस्तुओं के लिए बनावें, जो मशीनों के बिना तैयार नहीं हो सकतीं, और जो हों भी बहुत ही आवश्यक, अर्थात् फ़ैशन या विलासिता आदि के लिए न हों।*

*मशीनें मानव जाति के इस समय तक के विकास का फल हैं उनका व्यवहार सर्वथा बन्द करना उचित प्रतीत नहीं होता; हाँ, उनका नियंत्रण किया जा सकता है; साथ ही उनका दुरुपयोग भी रोका जाना चाहिए, जैसा कि उनके राष्ट्रीयकरण से बहुत-कुछ हो सकता है। हम विलासिता की वस्तुओं की उत्पत्ति के विरुद्ध हैं, इसका यह आशय नहीं कि ये वस्तुएं विदेशों से मंगा ली जाया करें। नहीं, हम चाहते हैं कि उनका उपयोग ही कम हो, जनता को ऐसी ही शिक्षा दी जाय, वे यथा-सम्भव संयमी हों और सादगी का जीवन बितायें।

———

छठा अध्याय

शिक्षा

भविष्य के लिए, हमारा उद्देश्य शिक्षा-संस्थाओं द्वारा ऐसे आदमी पैदा करना है, जिनका आदर्श सेवा हो, और जिनमें नेता बनने की इच्छा, योग्यता तथा क्षमता हो।

—ए. एच. मेकेन्जी

प्राक्कथन—केवल अक्षर-ज्ञान ही शिक्षा नहीं है, यह तो उस का एक साधन है। शिक्षा का असली अभिप्राय मनुष्य की विविध शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक आदि शक्तियों का विकास है। किसी देश को, शिक्षा की दृष्टि से जागृत तभी कहा जा सकता है, जब वहाँ साधारण शिक्षा सब को मिलती हो, देश के युवक और युवतियां उदार विचार वाले हों, और वे भली भांति जीवन-निर्वाह करते हुए देश-विदेश में अपने नागरिक अथवा मानवी कर्तव्यों को अच्छी तरह पालन कर सकें।

प्राचीन भारत में शिक्षा का काफी प्रचार था। गांव-गांव में एक पाठशाला होती थी, जिसका प्रबन्ध ज्यादातर गांव की पंचायत करती थी। खास खास जगहों में ऊंचे साहित्य आदि की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ थीं, जो राज्य और धनी लोगों की सहायता से चलती थीं। इनके अलावा जगह जगह गुरुकुल थे, जिनमें विद्वान लोग अपने अपने स्थान में बालकों को अपनी सन्तान की तरह रखते और शिक्षा देते थे। मुसलमानों के यहाँ आने के बाद मसजिदों के साथ या स्वतंत्र

रूप से बहुत से मकतब या मदरसे और कायम हो गये। इस तरह शिक्षा का क्रम जारी रहा। हाँ, पीछे जाकर राजक्रांति या भीतरी लड़ाइयों के कारण शिक्षा के काम में भी बाधा होने लगी। शिक्षा-संस्थाओं के संगठन और सुव्यवस्था में बहुत दोष आगये।

अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रारम्भ—हमारे जागृति-काल की शिक्षा सम्बन्धी एक मुख्य घटना यहाँ अंगरेज़ी शिक्षा का प्रचार होना है। यह कार्य सब से पहले ईसाई पादरियों ने किया। इनका प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था। इनकी संस्थाओं से जन साधारण को देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने का रास्ता साफ हुआ। इन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भी सहायता मिली, जो उस समय यहाँ की सरकार थी। समाज-सुधारकों ने भी अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचार में योग दिया। श्री० राजा राममोहन राय, तथा कलकत्ते के अन्य हिन्दू सज्जनों ने सन् १८१६ ई० में, एक लाख रुपये का चन्दा करके भारतीय विद्यार्थियों की, पूर्वी और पश्चिमी विद्याओं की, शिक्षा के लिए हिन्दू कालिज की स्थापना की। उनका उद्देश्य यह था कि भारत-वासी पश्चिम के उन्नत देशों की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति जान लें, और वहाँ के कला कौशल और विज्ञान का अध्ययन करें, जिससे यहाँ विविध सुधार आसानी से हो सकें।

सरकार की नीति—आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी यहाँ शिक्षा-प्रचार करने में उदासीन थी। इसके दो कारण थे। पहले तो कम्पनी का उद्देश्य धन कमाना था, उसके हरेक काम में व्यापारिक नीति रहती थी। दूसरे, वह सोचती थी कि भारतवासी धर्म-प्रेमी हैं; ऐसा न हो कि कम्पनी के शिक्षा-कार्य से वे अपने धर्म पर आघात हुआ समझें, और, उसे उनके विद्रोह का सामना करना पड़े। आख़िर,

जब ब्रिटिश पार्लिमेंट ने उसे शिक्षा की ओर ध्यान देने को मजबूर किया, तो उसने यहाँ इस देश की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली प्रचलित रखने में ही सहायता दी। सन् १७८१ ई० में, कलकत्ते में एक 'मदरसा' फ़ारसी को प्रोत्साहन देने के लिए खोला गया, जो कि उस समय अदालतों की भाषा थी। दस वर्ष पश्चात् बनारस में संस्कृत विद्यालय स्थापित किया गया। इन दोनों संस्थाओं का उद्देश्य यह था कि अंग्रेज़ी जजों को दीवानी के मुक़दमों का फ़ैसला करने में सहायता देने के लिए, हिन्दू और मुसलमानों के धर्मशास्त्र जानने-वाले तैयार हों।

सन १८१३ ई० में, कम्पनी की सनद बदलनेवाले ब्रिटिश पार्लिमेंट के क़ानून से निश्चय किया गया कि प्रति वर्ष कम्पनी की ओर से एक रक़म जो एक लाख रुपये से कम न हो, अलग रखी जावे और वह शिक्षा की उन्नति में लगायी जावे। इस पर सन् १८२३ में स्थापित कमेटी ने देहली और आगरे में कालिज खोले, जिनमें अंग्रेज़ी की भी क्लासें थीं। सन् १८२६ ई० में, मदरास में एक स्कूल और कुछ गावों की पाठशालाएं खोली गयीं। सन् १८३० ई० तक सरकार अपनी उपेक्षा को हटा कर शिक्षा-प्रचार की समर्थक हो गयी; हाँ वह इस कार्य में बहुत फूंक-फूंक कर पाँव रखती था।

नीति-परिवर्तन के कारण—अब हमें यह विचार करना चाहिए कि इस परिवर्तन के क्या कारण थे। एक तो ईसाई पादरियों और राजा राममोहन राय आदि द्वारा जो शिक्षा-कार्य हुआ था, उसका जनता में विरोध नहीं हुआ, जिसकी सरकार को बहुत आशंका थी। दूसरे, कम्पनी को, अपना कारोबार चलाने के लिए, दफ्तरों के वास्ते क्लर्कों की सख्त ज़रूरत थी। इंगलैंड से आदमी लाना कठिन

था, और वह काम था भी बहुत खर्च का। कम्पनी ने सोचा कि यदि यहाँ शिक्षा ऐसी दी जाय कि वह क्लर्क बनाने में सहायक हो तो यहाँ खूब सस्ते नौकर मिल जाया करेंगे। तीसरी बात यह थी कि कम्पनी का मुख्य लक्ष्य व्यापार बढ़ाना था। उसे आशा थी कि अंगरेज़ी शिक्षा पाकर युवक फ़ैशन-पसन्द या शौकीन होंगे, उनकी आवश्यकताएं बढ़ेंगी, और वे हमारा सामान खरीदेंगे।

इन सब से अधिक महत्व की बात एक और थी। अब तक के अनुभव से सरकार को मालूम हो गया था कि अंगरेज़ी पढ़े भारतीय युवक हमारे राज्य के विरोधी न होकर सहायक ही हो रहे हैं। देश में ऐसे आदमियों की संख्या जितनी बढ़ेगी, उतना ही राज्य अधिक जम सकेगा। सरकार के क़ानूनी सलाहकार मेकाले के यह शब्द बड़े मार्के के हैं, "हमें अपनी सारी शक्ति लगाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार कर सकें, जिसके आदमी हमारे, और हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिये का काम कर सकें; जो जाति और रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अंगरेज़ हों।"

अंगरेज़ी और देशी भाषाओं का सवाल—इन बातों के प्रभाव से अन्त में सन् १८३५ ई० में लार्ड विलियम बेंटिंग की सरकार ने यह निश्चय कर लिया कि देशी भाषाएं केवल प्रारंभिक शिक्षा के काम में लायी जावें, और ऊँची शिक्षा का माध्यम अंगरेज़ी भाषा हो। पहले कालिज के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति (वज़ीफ़ा) देने का प्रबन्ध था, वह इस वर्ष हटा दिया गया। हाँ, शिक्षा पाने के लिए विद्यार्थियों को अभी तक कोई फ़ीस नहीं देनी पड़ती थी। जब देश में शिक्षा पाने का उत्साह बढ़ चला तो फ़ीस भी लगादी गयी;

वही रीति अब तक चली आती है। सन् १८३७ ई० में फ़ारसी को हटाकर उर्दू सरकारी दफ़्तरों तथा अदालतों की भाषा बना दी गयी। अंगरेज़ी भाषा की परीक्षाएं पास करके प्रमाणपत्र (सार्टीफ़िकेट या सनद) पाये हुए भारतवासियों को ऊँची सरकारी नौकरियां मिलने लगीं। इन सब बातों ने अंग्रेज़ी और उर्दू की शिक्षा को बढ़ाया, और संस्कृत तथा अर्बी फ़ारसी का प्रचार घटाया।

शिक्षा की प्रगति—सन् १८५३ ई० में कम्पनी की सनद बदलने का समय आया। अब तक शिक्षा-प्रचार की गति बहुत धीमी थी। अब पिछले बीस वर्ष के अनुभव से मालूम हुआ कि अंगरेज़ी शिक्षा ऐसे ढंग से दी जा रही है कि वह अंगरेजी राज्य को कमज़ोर न करके उसे मज़बूत ही बनायेगी। इसलिए निश्चय गया कि उसका प्रचार जितना अधिक हो सके, अच्छा है। बस, सन् १८५७ ई० में कलकत्ते, बम्बई, और मदरास में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। सन् १८८२ ई० में एक शिक्षा-कमीशन ने सन् १८५४ ई० से अपने समय तक के शिक्षा-प्रचार के कार्य, और, इस सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण, की जांच करके प्रारम्भिक तथा ट्रेनिंग स्कूल खोलने आदि की शिफारिश की।

सन् १९१० ई० से सरकार का अलग शिक्षा-विभाग स्थापित किया गया। सन १९१३-१४ ई० से प्रति वर्ष सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित होती है, उसमें वर्ष भर के शिक्षा-कार्य की व्योरेवार आलोचना रहती है। सन् १९१९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय-कमीशन की रिपोर्टें प्रकाशित हुई। उसके आधार पर बहुत से स्थानों में इंटरमीजियट (एफ. ए.) कालिज खोलकर इन क्लासों को विश्वविद्यालय से जुदा

रखने की व्यवस्था की गयी, तथा, छात्रालय (बोर्डिंग) बढ़ाने, अध्यापकों को 'ट्रेन्ड' करने, एवं मुसलमानों का शिक्षा में उत्साह बढ़ाने की ओर ध्यान दिया गया। मुसलमान आरम्भ में बहुत समय तक अंगरेज़ी शिक्षा के विरुद्ध थे; उन्हें भय था कि इसे पाकर हम ईसाई हो जायँगे। अन्त में बहुत प्रयत्न करके, सर सैयद अहमद-खां आदि सज्जनों ने उन्हें इस के लाभ और आवश्यकता समझायी। तब से मुसलमान इस शिक्षा को पाने की कुछ विशेष कोशिश करने लगे। इस समय उनके अंगरेजी शिक्षा में पीछे रहने का मुख्य कारण यही है कि वे इसे देरी में पाने लगे थे।

विश्वविद्यालय—सन १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मदरास के विश्वविद्यालय स्थापित होने की बात पहले कही जा चुकी है। १८८२ में पञ्जाब का, और १८८६ में इलाहाबाद का विश्वविद्या-लय कायम किया गया। सन् १९०२ में यूनिवर्सिटी-कमीशन बैठा, और १९०४ में यूनिवर्सिटी-कानून बना। विद्यार्थियों को राजनैतिक हवा से 'सुरक्षित' रखने के लिए विश्वविद्यालयों पर शासकों के अधि-कार बढ़ा दिये गये; और स्कूलों और कालिजों के लिए कठोर और खर्चीले नियम बना दिये गये।

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी आदि सज्जनों के उद्योग से सन् १९१६ में बनारस के सेंट्रल हिन्दू कालिज में हिन्दू विश्व-विद्यालय की नींव डाली गयी। सन् १९२० में अलीगढ़ के एंग्लो-ओरिएंटल कालिज के आधार पर मुसलिम विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। ये दोनों विश्वविद्यालय गैर-सरकारी और खासकर लोगों की निजी कोशिश से कायम हुए थे; वैसे इन्हें सरकारी सहायता भी मिली और मिलती रही। हैदराबाद का उसमानिया विश्वविद्यालय

सन् १६१८ में स्थापित हुआ। इसने साहित्य छोड़ कर दूसरे सभी विषयों की पढ़ाई का माध्यम उर्दू रखा। इससे उर्दू में कई विषयों का ऊंचा साहित्य तैयार होने में बड़ी मदद मिली। देशी रियासतों में सब से पहला विश्वविद्यालय मैसूर राज्यमें सन् १६१६ में स्थापित हुआ था।

भारतवर्ष में इस समय सब मिलाकर १६ विश्वविद्यालय हैं। मध्य भारत और राजपूताने की रियासतों के लिए दो अलग-अलग विश्वविद्यालय स्थापित करने की बात चल रही है। ज्यादातर विश्वविद्यालय तो पाठ्यक्रम निश्चित करने और परीक्षा लेने का ही काम करते हैं। अनुसंधान या खोज का काम कम होता है। विश्वविद्यालयों की पढ़ाई बहुत खर्चीली है। ऊँची शिक्षा पाना मामूली हैसियत के आदमी के वश की बात नहीं। कुछ राष्ट्रीय नेताओं का मत है कि विश्वविद्यालयों के खर्च में काफी कमी होनी चाहिए; इनका बहुत कुछ खर्च फीस और सार्वजनिक चन्दे और महायता मे निकल आना चाहिए, जिससे राज्य पर उनका विशेष भार न पड़े।

प्रारम्भिक शिक्षा—लार्ड रिपन की स्थानीय स्वराज्य की योजना का काम बढ़ने पर, सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य म्युनिसपेलटियों और जिला-बोर्डों के सुपुर्द कर दिया। पर इन संस्थाओं की आमदनी बहुत कम थी और स्कूलों के इन्स्पेकटर आदि अफसरों का खर्च तथा बाहरी टीपटाप के नियम बहुत रहे। इसलिए कुछ खास उन्नति नहीं होने पायी। सन् १६११ में माननीय श्री० गोखले ने देश भर में प्रारम्भिक शिक्षा मुफ्त और लाज़मी (अनिवार्य) करने के लिए भारतीय व्यवस्थापक सभा में एक बिल (क़ानूनी मसविदा) पेश किया, लेकिन सरकार ने आर्थिक कठिनाइयों के आधार पर उसे स्वीकार न किया। पश्चात् १६१८ ई० से विविध प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों ने समय-समय पर प्रारम्भिक शिक्षा का क़ानून पास किया। प्रायः जो म्युनिसपेलिटियाँ इस शिक्षा के लिए एक-तिहाई खर्च देना स्वीकार करें, उन्हें शेष खर्च के लिए सरकारी सहायता मिलने लगी।

यह होने पर भी देश में शिक्षा का प्रचार बहुत कम हो पाया है। सिर्फ बारह फी सदी आदमी ही लिख-पढ़ सकते हैं। पिछले दिनों भारत-सरकार के शिक्षा-कमिश्नर सर जान सार्जेंट ने शिक्षा-प्रचार की एक योजना बनायी है, उसे आम बोलचाल में सार्जेंट योजना कहते हैं। उसमें आठ वर्ष के लिए बिना फीस अनिवार्य शिक्षा की सिफारिश की गयी है। अभी इस योजना के अनुसार काम शुरू नहीं हुआ है।

शिक्षा-सुधार के प्रयत्न—उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में लोगों का ध्यान अंग्रेज़ी शिक्षा के दोषों की ओर गया। उन्होंने अनुभव किया कि अंगरेज़ी पढ़कर युवक शौक़ीन बन जाते हैं, और रहन-सहन आदि में अंग्रेज़ों की नक़ल करने लगते हैं। आवश्यकता है कि वे सादगी से रहें, और भारतीय भाषा, भेष और भावों का आदर करें। इस विचार से जनता ने मोहमेडन कालिज, अलीगढ़; फ़र्ग्यूसन कालिज, पूना; डी० ए० वी० कालिज, लाहौर; और सेंट्रल हिन्दू कालिज, बनारस; आदि कालिज तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले स्कूल खोले। ये सरकारी शिक्षा-विभाग से सम्बद्ध है और उसके द्वारा ठहरायी हुई पाठविधि का उपयोग करते हैं। हाँ, इनमें धार्मिक शिक्षा आदि की विशेषता है। जहाँ तहाँ कुछ आदमियों या संस्थाओं ने अपनी जाति या धर्म वाले विद्यार्थियों के लिए छात्रालय खोले। इनमें सदाचार और उचित खान-पान आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस समय की स्थापित, स्त्रियों को शिक्षा देने वाली संस्थाओं में विशेष उल्लेखनीय कन्यामहाविद्यालय, जालंधर; और अनाथ बालिका आश्रम, हिंगणा (पूना), हैं। पहले की स्थापित कन्या गुरुकुल, देहरादून, भी इसी प्रकार की संस्था है।

शिक्षा-सुधार का प्रयत्न संयुक्तप्रान्त, पञ्जाब, और महाराष्ट्र में ही हुआ। दक्षिण में ऐसा आन्दोलन न होने का कारण यह है कि वहाँ अङ्गरेज़ी शिक्षा का कुफल मध्य श्रेणी की जनता के सामने विशेष रूप से नहीं आया था, और भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का आदर्श बना हुआ था। बंगाल प्रान्त में, ब्रह्म समाज ने आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति की भी अच्छी बातों के प्रचार करने का ध्यान रखा था। इस समाज का वहां के शिक्षित वर्ग पर अच्छा प्रभाव था। फिर, वहाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय का सगठन भी ऐसा था कि शिक्षापद्धति में साधारण सुधार सहज ही हो जाते थे। इसलिए वहाँ भी सुधार-आन्दोलन या नवीन संस्थाओं की विशेष आवश्यकता न हुई।

राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएं—सन् १८७५ ई० से सन् १६०० ई० तक स्थापित अर्द्ध-सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की गति विधि देखने से मालूम होता है कि इस समय राष्ट्रीय शिक्षा शुरू हो गयी थी। इस बीच में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का भी जन्म हो चुका था। राष्ट्रीय जागृति आरम्भ हो जाने पर लोगों ने सोचा कि सरकार ने शिक्षा को इतना महंगा बना रखा है कि वह साधारण स्थिति के मनुष्यों की पहुँच से बाहर है। फिर, सरकारी नियत्रण वाली संस्थाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में दासता के भाव रहते हैं, उनसे स्वतंत्रता या स्वदेश-प्रेम के प्रचार की आशा नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी संस्थाओं की स्थापना का विचार होने लगा, जो सरकारी नियंत्रण से बरी रहें, राष्ट्रीय भावों वाली हों, और देश की सभ्यता की रक्षा करनेवाली तथा औद्योगिक आवश्यकताएँ पूरी करनेवाली हों।

सन् १९०५-६ ई० में बंगाल के दो टुकड़े किये जाने से स्वदेशी और वहिष्कार आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। सरकार ने विद्यार्थियों को

राजनीति में भाग लेने से मना किया। इस पर बहुत से विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से सम्बन्ध तोड़ लिया। इससे, शिक्षा के क्षेत्र में, स्वावलम्बी होने तथा राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित करने के विचार को उत्तेजना मिली। जो संस्थाएँ केवल आन्दोलन के जोश में स्थापित की गयी थीं, उनका पीछे, आन्दोलन ढीला पड़ जाने पर, बन्द हो जाना स्वाभाविक था। जिन संस्थाओं का आधार दृढ़ था, वे ही बनी रहीं। इनमें शान्तिनिकेतन, गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल बृन्दाबन, महाविद्यालय ज्वालापुर, बंगीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्, समर्थ विद्यालय तलेगांव, प्रेम महाविद्यालय बृन्दाबन, आन्ध्र जातीय कला-शाला, और दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवन भावनगर आदि मुख्य हैं। इन संस्थाओं में, कई विशेषताएँ हैं। इनमें शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाती है, और अध्यापक विद्यार्थियों से केवल पढ़ाने के समय ही सम्बन्ध नहीं रखते, वरन् पीछे भी उनकी शारीरिक, मानसिक आदि उन्नति का ध्यान रखते है। इन संस्थाओं का पाठ्यक्रम भी ऐसा होता है, जिससे विद्यार्थियों के जीवन में विशेष लाभ पहुँचे। विद्यार्थियों को व्यर्थ के आडम्बर, टीपटाप और फैशन से बचाया जाता है। फिर, यहाँ शिक्षा देने में सर्व साधारण की आर्थिक अवस्था का यथेष्ट ध्यान रखा जाता है। प्रायः शिक्षा निश्शुल्क होती है; यदि फ़ीस रखी भी जाती है, तो सरकारी शिक्षा-संस्थाओं की अपेक्षा बहुत कम।

असहयोग आन्दोलन के समय की, तथा उसके पीछे की संस्थाएँ—सन् १९२० ई० में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ, और कांग्रेस ने सरकारी शिक्षा-संस्थाओं के भी बहिष्कार का आदेश किया। उस समय बहुतसे विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों में पढ़ना छोड़ दिया।

इनके तथा अन्य विद्यार्थियों के लिए बहुत से राष्ट्रीय विद्यालय और महाविद्यालय खोले गये, जैसे तिलक स्कूल आफ पोलिटिक्स, लाहौर; नेशनल कालिज, लाहौर; जामिया मिलिया इसलामिया. दिल्ली; गुजरात विद्यापीठ; अहमदाबाद; तिलक विद्यापीठ, पूना; बिहार विद्यापीठ; पटना; काशी विद्यापीठ, बनारस; महिला विद्यापीठ प्रयाग; हिन्दी साहित्य विद्यालय, आगरा; आदि। आन्दोलन शान्त होने पर कितनी ही संस्थाएँ धन न होने से या विद्यार्थियों या कार्यकर्ताओं की कमी के कारण टूट गयीं। कुछ राष्ट्रीय संस्थाएँ अपनी रुचि, और क्षेत्र या स्थानीय परिस्थिति के विचार से किसी न किसी खास जरूरत को पूरा कर रही हैं। ये सब एक दूसरी के कार्यकर्ताओं के विचार-विनिमय तथा अनुभव से लाभ उठा सकती हैं। कुछ समय हुआ, काशी विद्यापीठ ने, ऐसे विचारों से प्रेरित होकर एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन की योजना की थी। यदि वैसी परम्परा बनी रहे, तो बहुत उत्तम हो।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोष—राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं का कार्य प्रशंसनीय होते हुए भी, उनकी संख्या और क्षेत्र बहुत कम है। देश की अधिकांश शिक्षा-संस्थाएँ सरकारी या अर्द्ध-सरकारी हैं। हरेक प्रांत में उनका सङ्गठन है। परन्तु यहाँ की विशाल जनता को देखते हुए, तथा सेना, शासन आदि के खर्च की तुलना में, सरकार ने शिक्षा में बहुत ही कम खर्च किया है; और जो खर्च किया है, उसका भी राष्ट्रीय दृष्टि से जनता को काफी लाभ नहीं मिला। ऊचे दर्जे की शिक्षा पर बहुत ज्यादा खर्च होना, शिक्षा संस्थाओं की इमारतों आदि का बहुत ध्यान रखना, ऊँची शिक्षा का माध्यम अंगरेजी करना, सर्वसाधारण की शिक्षा की अवहेलना, विविध पेशों की शिक्षा की व्यवस्था

बहुत कम होना, आदि बातें सब जानते हैं। इन दोषों के कारण देश में अनपढ़ों की भरमार है; और जो युवक कुछ पढ़े-लिखे हैं, वे ज्यादा-तर नौकरी की तलाश में इधर उधर मारे-मारे फिरते हैं। शिक्षितों में फैशन या शौकीनी बहुत बढ़ जाती है, और उनकी बढ़ी हुई जरूरतें पूरी न हो सकने से वे बड़े सङ्कट में रहते हैं। समय समय पर उनकी आत्म-हत्या की बात सुनने में आती रहती है।

बुनियादी शिक्षा और नयी तालीम—सन् १९३७ में प्रान्तों में प्रजातंत्रात्मक सरकारों की स्थापना हो जाने पर प्रान्तीय सरकारों, विशेषतया कांग्रेस-सरकारों ने इन बातों का विचार करने के लिए शिक्षा-विशेषज्ञों की उपसमिति नियत की, और उनकी रिपोर्ट के आधार पर, शिक्षा-पद्धति में हेरफेर करने का निश्चय किया। नयी शिक्षा-योजना की प्रेरणा महात्मा गांधी द्वारा हुई है, और इस संबंध में प्रारम्भिक विचार-विनिमय अधिकतर वर्धा में हुआ। साधारण बोलचाल में इस योजना को 'वर्धा-शिक्षा-योजना' कहा जाता है। अस्तु, यह विचार किया गया कि प्रारम्भिक एवं माध्यमिक स्कूलों की प्रथा उठाकर, उसकी जगह सात साल से लेकर चौदह साल की उम्र तक की बुनियादी शिक्षा दी जाय, जिसमें दस्तकारी की शिक्षा की व्यवस्था अवश्य हो, जिसे पूरा करके, युवक अपनी आजीविका कमा सकें, और गाँवों में लौट कर वहाँ बस जाने की भी इच्छा रखें। इस शिक्षा-प्रणाली का ध्येय ऐसे बालक, बालिकाओं को तैयार करना है, जो नौकरी की चिन्ता न करें, वरन् स्वावलम्बी जीवन बिता सकें; साथ ही वे यह भी अच्छी तरह जान लें कि राष्ट्र तथा समाज के प्रति उनका क्या कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व है। इस लिए उन्हें नागरिक-ज्ञान ('सीविक्स') आदि समाज-शास्त्र की भी शिक्षा दी जाने लगी।

जगह जगह बुनियादी शिक्षा-संस्थाएँ कायम की गयीं, और काम खूब जोश से होने लगा था। लेकिन १६३६ में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के इस्तीफे देने के बाद इस ओर उपेक्षा की गयी। अगस्त १६४२ के दमन के बाद तो यह काम बहुत-कुछ रुक ही गया। अब इस तरफ फिर ध्यान दिया जाने लगा है।

कांग्रेस की ओर से स्थापित हिन्दुस्तानी तालीमी सङ्घ की देख-भाल में, पिछले छः वर्ष नयी तालीम के बारे में तरह तरह के अनुसंधान और प्रयोग किये गये। १६४४ में म० गांधी ने देशवासियों की समग्र शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार प्रकट किया—सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व-बुनियादी शिक्षा, सात वर्ष से चौदह वर्ष तक की बुनियादी शिक्षा, १४ वर्ष से बाद की उत्तर-बुनियादी शिक्षा, और इन तीनों के अलावा दूसरे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा। समग्र शिक्षा के सम्बन्ध में कई एक विस्तृत योजनाओं का बनना अभी बाकी है। कई सवाल सामने हैं—७ वर्ष से कम उम्र के बच्चों में से किस किस उम्र के बच्चों को कैसी शिक्षा दी जाय, और किस किस तरह। ७ से १४ वर्ष तक की उम्र के बच्चों को बुनियादी शिक्षा का जो अनुभव हुआ है, उसके आधार पर अब क्या-क्या परिवर्तन किये जायँ ?

प्रौढ़ शिक्षा—इसी प्रकार प्रौढ़ यानी बड़ी उम्र वाले उन स्त्री पुरुषों की राष्ट्रीय तथा राजनैतिक शिक्षा का इन्तजाम करने की आवश्यकता है, जो किसी संस्था में बाकायदा नहीं पढ़ सकते। उनके लिए सभाएँ और समाचार-पत्र आदि बहुत सहायक होते हैं। जगह-जगह रात्रि-पाठशालाएँ पुस्तकालय और वाचनालय खोले जाने चाहिएँ। इसके अलावा, हरेक विचारशील राष्ट्र-प्रेमी का कर्तव्य है

कि अपने-अपने हल्के में जिन मित्रों, पड़ोसियों, सम्बन्धियों तथा गाँव और नगरवालों से मिले, उनसे बातचीत और विचार-विनिमय करके उन्हें देश की हालत और जरूरतें समझावे और उन्हें योग्य नागरिक बनने में मदद दे।

इस से साफ जाहिर है कि शिक्षा का कार्य कितना व्यापक है; उससे हमारी सभी राष्ट्रीय कमजोरी और कमी दूर होनी चाहिएँ।

सामयिक प्रश्नों का विचार; शिक्षा पद्धति—अब हम शिक्षा सम्बन्धी कुछ सामयिक प्रश्नों का विचार करते हैं। पहले शिक्षा पद्धति का बात लें। इस विषय में संसार में नये नये विचार होते जा रहे हैं, पर भारतवर्ष में सरकारी शिक्षा-विभाग एक खास ढर्रे से चला जा रहा है, जिसमें देश काल की जरूरतें पूरा करने की भावना नहीं है। दूसरे सज्जन भी अकसर सरकारी नमूने की ही संस्था खड़ी करते रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ कुछ नयी दिशा में आगे बढ़तीं भी, तो उनके पास साधन और शक्ति की कमी थी। गनीमत है कि आर्य समाज की ओर से स्थापित गुरुकुलों में पुरानी वैदिक पद्धति से शिक्षा दी जाती है जिसमें ब्रह्मचर्य, संयम और सादगी पर जोर दिया जाता है। प्रेम महाविद्यालय (वृन्दाबन) आदि कुछ संस्थाओं में बौद्धिक शिक्षा के साथ हाथ के काम की भी शिक्षा दी जाती है। शान्ति निकेतन (बोलपुर) ने शिक्षा के सम्बन्ध के कुछ स्वतन्त्र प्रयोग किये हैं; श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन (भावनगर) तथा कुछ अन्य संस्थाएँ प्रारम्भिक शिक्षा 'मांटेसरी पद्धति' से, और माध्यमिक शिक्षा 'डालटन पद्धति' से, देती है। बच्चों के पढ़ाने में 'किंडर गार्टन पद्धति' का प्रचार बढ़ता जा रहा है। यह साफ जाहिर है कि हमें नयी शिक्षा-पद्धतियों पर विचार करने और उन्हें आवश्यकता के अनुसार

अपनाने का बहुत काम करना है।

मांटेसरी शिक्षापद्धति का मुख्य अंग बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों का वैज्ञानिक ढंग से ट्रेनिंग करना है। मिसाल के तौर पर रेत लगे कागज (सेंड पेपर) के कुछ टुकड़े होते हैं, उनमें से एक बहुत खुरदरा होता है, दूसरा उससे कम, तीसरा उससे कम। इस तरह वे क्रम से अधिक और कम खुरदरे होते हैं। बालक उन पर हाथ फेर कर उन्हें अधिक और कम खुरदरेपन के हिसाब से लगाता है। वह धीमी और तेज आवाज की घंटियों या सीटियों आदि को उनकी आवाज के क्रम से रखता है। इसी तरह बच्चे को अनेक प्रकार के रंगों और आकारों का ज्ञान हो जाता है।

डालटन शिक्षापद्धति के अनुसार चलनेवाले स्कूलों में न तो अलग-अलग कक्षाओं (क्लासों) के लिए जुदा जुदा कमरे ही होते हैं और न अलग-अलग विषयों के लिए अलग घंटे। हरेक विषय का ज्ञान पाने के लिए एक अलग प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) होती है, जिसमें उस विषय की सब पुस्तकें, चार्ट, नक्शे और यंत्र आदि रहते हैं विद्यार्थियों को बता दिया जाता है कि उन्हें इस-इस विषय में एक हफ्ते में, और एक महीने में इतना कार्य करके साल भर में इतना कार्य पूरा करना है। विद्यार्थी इस विषय में स्वतंत्र होता है कि वह पहले किस विषय का कार्य पूरा करे अथवा एक विषय के लिए एक दिन में कितना समय दे। जिस विषय का कार्य उसे करना होता है, उसी विषय की प्रयोगशाला में वह चला जाता है। वहाँ उस विषय को खास तौर से जाननेवाला अध्यापक रहता है; यदि विद्यार्थी को किसी तरह की कोई कठिनाई हो तो वह उसे हल कर देता है। यह साफ जाहिर ही है कि इस पद्धति का उपयोग बहुत छोटे विद्यार्थियों के लिए नहीं हो सकता।

'किंडर गार्टन' का अर्थ है, बालकों का बगीचा, अर्थात् ऐसा बगीचा जहाँ फूलों के स्थान पर बच्चे विकसित होते हैं। किंडरगार्टन शिक्षापद्धति में शिक्षा का कार्य बच्चों को दिये हुए उपहारों और तरह-तरह के खेलों द्वारा होता है। [श्री० ब्रजमोहन गुप्त एम० ए० के लेख के आधार पर]

सह-शिक्षा—अब सह-शिक्षा यानी लड़के लड़कियों के साथ-साथ

पढ़ने का विषय लीजिए। यद्यपि सरकारी संस्थाओं में इस की अनुमति है, अभी तक यहाँ अधिकांश बालक और बालिकाएं अलग-अलग पढ़ती हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं में, खासकर शान्ति-निकेतन, तथा दक्षिणामूर्ति भवन, भावनगर, आदि में ही सह-शिक्षा जारी है। ऊँची श्रेणियों में सह-शिक्षा होने के सम्बन्ध में, शिक्षा-विशारदों में बहुत मत-भेद है। कुछ सज्जनों का मत है कि क्योंकि सामाजिक जीवन में, स्त्री पुरुषों को मिलना ही नहीं साथ-साथ रहना पड़ता है, यदि शिक्षा-काल में वे एक दूसरे के विचार या दृष्टिकोण समझ सकें तो यह उनके भावी जीवन के लिए उपयोगी होगा। परन्तु जवान लड़के लड़कियों के साथ-साथ रहने से, उनके चालचलन के बारे में आशंका होती है। इसके अलावा, स्त्री पुरुषों के कार्यक्षेत्र तथा ज़रूरतें कुछ जुदा-जुदा हैं। इसलिए सह-शिक्षा बहुत परिमित सीमा तक ही होना उचित है। इसकी व्यवस्था करनेवाली संस्थाओं के संचालकों को अपने यहाँ का वातावरण शुद्ध रखने की भरसक कोशिश करनी चाहिए। ऊंची शिक्षा देनेवाली संस्थाओं में से सह-शिक्षा केवल उनमें होनी चाहिए, जिनके रहनसहन में संयम, तथा पारिवारिक भावना हो, और जहां अध्यापक अपने विद्यार्थियों से ऐसा व्यवहार करने वाला हो, जैसा सन्तान से किया जाता है।

शारीरिक और नैतिक विचार—कई वर्ष ज्यादातर दिमागी काम करनेवाले नवयुवकों का शरीर कैसे तन्दुरुस्त रह सकता है, और बारबार बीमार रहनेवाले सुखी कैसे हो सकते हैं। शरीर की पुष्टि के लिए उत्तम भोजन के अलावा व्यायाम और शुद्ध आचार-विचार की आवश्यकता है। सरकारी स्कूलों में प्रायः अंगरेज़ी खेलों का प्रचार बढ़ता रहा है, परन्तु इस बेढब ख़र्च वाले व्यायाम से सब

विद्यार्थी फायदा नहीं उठा सकते। इसके लिए तो 'कम-खर्च, बाला-नशीं' देशी व्यायामशालाओं की ज़रूरत है। युवावस्था में विद्यार्थियों के विचार शुद्ध रखने के लिए भी बहुत कुछ काम करना शेष है। धीरे-धीरे बाल-विवाह तो कम होता जाता है, परन्तु कुसंगति आदि उन बातों को रोकने की ज़रूरत बढ़ रही है, जिन से विवाह न होने की दशा में भी युवकों का जीवन खराब हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखकर छात्रालयों अर्थात् बोर्डिंग हाउसों की संख्या और क्षेत्र बढ़ाया जाने लगा है परन्तु इस से ही उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। हमें शिक्षा-क्रम को बदलना होगा। अध्यापकों का विद्यार्थियों से केवल चार-पाँच घंटे का ही सम्बन्ध न रहे; उन्हें उनकी उन्नति और सदाचार आदि का हर समय ख़याल रखना चाहिए। विद्यार्थियों पर उनका शासन नियम और दंड या भय का न होकर, प्रेम और सहानुभूति का होना चाहिए।

बालचर शिक्षा—युवकों को अपने विद्यार्थी-जीवन में, सेवा और परोपकार की क्रियात्मक शिक्षा भी मिलने की ज़रूरत है। किसी घर में आग लग जाने पर उसे बुझाने की तथा वहाँ के आदमियों और बच्चों तथा सामान को बचाने की, अथवा नदी तालाब आदि में डूबते हुए, या मकान की छत आदि से गिरे हुए आदमी या बच्चे की हिफाजत करने की आवश्यकता समय समय पर पड़ती रहती है। जब तक इन बातों की तालीम न पायी हो, साधारण आदमी ऐसे अवसरों पर विशेष उपयोगी नहीं होता। इस लिए अमली तालीम देने वाली बालचर संस्थाओं की व्यवस्था स्थान-स्थान पर होनी चाहिए। इन से स्वावलम्बन, किफायतशारी, और सहकारिता या मेलजोल के भाव बढ़ते हैं।

सैनिक शिक्षा—हमारी शिक्षा-संस्थाओं में फौजी तालीम देने का प्रबन्ध भी बहुत कम है। इस को आवश्यकता केवल इसी दृष्टि से नहीं है कि इससे भारतवर्ष के भयङ्कर सैनिक व्यय में कमी होकर दरिद्र प्रजा का कर-भार कुछ हलका होने में सहायता मिले, वरन् इस लिए भी है कि इस से युवकों में साहस, फूर्ति और सजीवता (जिन्दादिली) बढ़ती है, और वे अपने नागरिक कर्तव्य पालन करने के अधिक योग्य बनते हैं।

म० गांधी आदि महानुभावों ने संसार को अहिन्सा की शक्ति का परिचय दिया है। क्यों न हमारी शिक्षा संस्थाएँ युवकों को इसका प्रयोग और अभ्यास करावें। अहिंसा भाव से काम करना, शत्रु को अपने प्रेम-भाव से जीतना कुछ आसान काम नहीं है। लेकिन जब कि आदमी सिखाने से यह सीख लेता है कि दूसरों के प्राण लेने के लिए अपनी जान देने को तैयार रहना चाहिए तो क्या वह यह नहीं सीख सकता कि दूसरों को बचाने के लिए कष्ट सहना और अपने प्राण तक न्योछावर करना हमारा परम कर्तव्य है।

विद्यार्थियों का सङ्गठन—विद्यार्थी बहुत समय से सामूहिक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेते रहे हैं। सन् १६०५ में बङ्गाल के दो टुकड़े किये जाने पर अनेक बङ्गाली विद्यार्थी सरकारी संस्थाओं से निकल आये। पीछे सन् १६२१-२२ के असहयोग आन्दोलन में जगह जगह विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़ा। इस समय कुछ विद्यार्थी-सङ्घ बने, परन्तु आन्दोलन शिथिल होने पर उनमें से बहुत से टूट गये। सन् १६३०-३२ के आन्दोलन में विद्यार्थियों ने अच्छा हिस्सा लिया, और हजारों विद्यार्थी जेल गये। इस समय से जगह-जगह विद्यार्थी-सङ्घ बनते रहे। कई प्रान्तीय सङ्घों की भी स्थापना हुई। सन् १६३६ में लखनऊ में अखिल भारतीय विद्यार्थी सङ्घ का पहला अधिवेशन हुआ, उसमें विद्यार्थी-आंदोलन के उद्देश्य

निश्चित किये गये। इसी वर्ष सङ्घ ने विद्यार्थियों का एक अधिकार-पत्र स्वीकार किया। कुछ सङ्घों की स्थापना साम्प्रदायिक आधार पर भी हुई, पर आम तौर से विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही रखा। समय-समय पर विद्यार्थियों ने अधिकारियों से अपनी मांगें मनवाने के लिए हड़तालें भी की हैं। विद्यार्थी-सङ्घ एक महान शक्ति है। इसकी सैकड़ों शाखाएँ हैं, इसने विद्यार्थियों को नागरिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार दिलाने और उनकी मदद करने के लिए खूब कोशिश की है।

शिक्षक सम्मेलन—अध्यापकों की उन्नति और शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए जगह जगह शिक्षकों के सम्मेलन हैं। कई प्रान्तीय सम्मेलन और एक भारतवर्षीय सम्मेलन भी कई वर्ष से हैं। इन का सङ्गठन धीरे धीरे सुधरता और मजबूत होता जा रहा है। दिसम्बर सन् १९३० से पहले भारतवर्ष से बाहर के अध्यापकों के प्रतिनिधियों का ऐसे कार्य के लिए आना नहीं हुआ था। सन् १९३० में यहाँ काशी में एशिया-शिक्षक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के कार्य के लगभग बीस विभाग थे, इस में भाग लेनेवाले कई हजार आदमियों को तरह तरह का ज्ञान और अनुभव प्राप्त हुआ। चीन, जापान, लङ्का आदि भिन्न भिन्न देशों के विद्या-प्रेमियों से परिचय पाना बड़े महत्व की बात थी।

ऐसे सम्मेलन बहुत उपयोगी होते हैं। इनसे हम यह जान सकते हैं कि अन्य देशों में शिक्षा सम्बन्धी क्या नये अनुभव, प्रयोग और आविष्कार हो रहे हैं, उन्होंने अपनी विविध समस्याओं को किस प्रकार हल किया है, और, हम उन के अनुभवों से कहाँ तक किस रूप में लाभ उठा सकते हैं। धार्मिक, या राजनैतिक प्रश्नों की भाँति शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न एशिया भर में कुछ-कुछ मिलते जुलते हैं। आशा है, ऐसे सम्मेलन समय-समय पर होकर हमारी शिक्षा-सम्बन्धी जागृति की गति तेज करने में सहायक होंगे।

सातवाँ अध्याय

भाषा और साहित्य

हमें युग-धर्म के अनुरूप साहित्य की रचना करनी है।

—*बनारसीदास चतुर्वेदी*

कला, साहित्य और संस्कृति को भी हमें इस ढंग से ढालना होगा कि किसान और मज़दूर उसमें से अपना हिस्सा ले सकें। —*लेनिन*

साहित्यिक जागृति का आशय यह है कि सर्वसाधारण की भाषा में, और विविध उपयोगी विषयों का भी काफी साहित्य प्रकाशित हो; उससे हमें जीवन और प्रफुल्लता मिले, हम संसार के विविध देशों में फैली हुई विचार-धाराओं का परिचय प्राप्त करें और मानव समाज के ज्ञान के आदान-प्रदान में भाग लें। इस अध्याय में यह विचार करना है कि हमने इस दिशा में कहाँ तक प्रगति की है। इसके लिए जागृति-काल से पहले की भाषा की हालत पर विचार करना आवश्यक है।

पहले की भाषा-स्थिति—अठारहवीं सदी में यहाँ देश के विविध भागों में जुदा-जुदा भाषाएँ जारी थीं; कोई भाषा राष्ट्र-भाषा न थी। नयी रोशनी के नवयुवक अंगरेज़ी को अपनाने लगे थे, यहाँ तक कि कुछ आदमी शासकों का सहयोग पाकर इसे ही देश के शिक्षितों की भाषा बनाने का दम भरते थे। जहाँ तहाँ, कुछ भारतीय विद्वान् संस्कृत को फ़िर राष्ट्र-भाषा बनाने की कल्पना करते थे। फ़ारसी को राज-आश्रय प्राप्त था; संस्कृत में प्राचीन, और अंगरेजी में नवीन ज्ञान-

भण्डार भरा हुआ था। और, हिन्दी में उस समय क्या था? अलग-अलग विषयों के साहित्य की बात तो दूर, इसमें गद्य-भाग का भी अभाव सा ही था। इसमें केवल कुछ काव्य था, वह भी अधिकतर शृङ्गार और भक्ति रस से भरा हुआ। वीर रस का तो पद्य साहित्य भी बहुत कम था।

जागृति-काल में प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति—जागृति-काल में हमारी राष्ट्र-भाषा की समस्या कुछ हल होने के अतिरिक्त, प्रान्तीय भाषाओं की अच्छी उन्नति हुई है। बंगला भाषा में गद्य का प्रचार ईसाई पादरियों द्वारा आरम्भ हुआ। सन १८०० ई०में अंगरेज़ सिविलियनों को देशी भाषा सिखाने के वास्ते कलकत्ते में फ़ोर्ट-विलियम कालिज की स्थापना होने पर बंगला की शिक्षा देने के लिए गद्य में पढ़ाई की पुस्तकें बनायी जाने लगीं। धीरे धीरे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों ने बंग भाषा की खूब उन्नति की। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से से बंगला के सभी विषयों का साहित्य बढ़ने लगा। पीछे तो श्री० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी गीतांजलि (अंगरेजी अनुवाद) के लिए सुप्रसिद्ध 'नोबल' पुरस्कार लेकर योरप में भी आदर मान पाया। बंगला भाषा का ज्यादातर साहित्य भावुकता से भरा हुआ है, उसमें उपन्यास, नाटक, कविता आदि की प्रधानता है। मराठी भाषा में खासकर इतिहास सम्बन्धी बहुत काम हुआ है, इसने नाटक और धार्मिक साहित्य में भी अच्छी प्रगति की है। इसके कुछ लेखकों की रचनाएँ दूसरे देशों के बढ़िया से बढ़िया ग्रन्थों से अच्छी टक्कर ले सकती हैं। लोकमान्य तिलक जैसे महापुरुषों ने इस भाषा में अपनी सुविख्यात रचनाएं लिख कर इसका मान बढ़ाया, एव अन्य सज्जनों के लिए

अच्छा आदर्श उपस्थित किया है।

गुजराती भाषा विशेषतया शिक्षण सम्बन्धी साहित्य और कविता के लिए प्रसिद्ध है। कहानी और उपन्यास आदि अन्य अंगों की भी वृद्धि हो रही है। अनेक नर-रत्नों ने इस भाषा की सेवा की है, संसार-पूज्य महात्मा गांधी ने भी समय-समय पर गुजराती भाषा में रचनाएँ करके इसे अच्छी प्रगति प्रदान की है। इसी प्रकार तैलगू आदि हमारी अन्य भाषाओं के साहित्य को भी वृद्धि हो रही है। पहले की भांति लोग अब इन्हें अनादर की दृष्टि से नहीं देखते, समझदार शिक्षित व्यक्ति इन की सेवा में योग देकर अपना जीवन सफल कर रहे हैं।

अब हम हिन्दी के साहित्य की प्रगति का विचार विशेष रूप से करेंगे; कारण, यह यहाँ के कई प्रान्तो की प्रान्तीय भाषा होने के अलावा सारे भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा भी है।

हिन्दी गद्य का विकास—हिन्दी गद्य का पहला उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रायः श्री० लल्लूलालजी का 'प्रेमसागर' माना जाता है, जो अठारहवीं सदी के अन्त या उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में ही लिखा गया था। सदल मिश्र जी की 'चन्द्रावली' भी इसी समय की रचना है। पीछे अन्य लेखक भी हिन्दी गद्य लिखने लगे। राजा शिवप्रसाद (सितारे हिन्द) ने उर्दू मिश्रित हिन्दी गद्य लिखा, और उसका पाठशालाओं में, प्रचार कराया। राजा लक्ष्मणप्रसाद जी ने कई संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी गद्य में अनुवाद किया। गद्य का विशेष विकास करने वाले सबसे पहले सज्जन चिर स्मरणीय श्री० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी (सन् १८५०-८५) हैं। इनकी प्रतिभा विलक्षण थी, और [redacted] अपना तन मन धन साहित्य-कार्य में लगा दिया। इन्होंने सुन्दर रचनाओं से गद्य को एक विशेष शैली प्रदान की; नाटकों को

तो मानो जन्म ही दिया। आगे चलकर, जिन साहित्य-सेवियों ने इस भाषा को परिमार्जित, सजीव और निश्चित बनाने में भाग लिया, उनमें आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी मुख्य हैं। आपने गद्य का परिष्कृत या मँजा हुआ रूप जनता के सामने रखा, और अनेक बाधाएँ और विरोध होते हुए भी खड़ी बोली को हिन्दी कविता का माध्यम बनाने का महान प्रयत्न किया। आपने अनेक लेखकों और कवियों को साहित्य-सेवा को प्रेरणा की और आवश्यक परामर्श देते हुए उन्हें खूब प्रोत्साहन दिया।

स्थान की कमी के कारण यहाँ दूसरे साहित्य-सेवियों की चर्चा नहीं की जा सकती। यह ज़िक्र करना ज़रूरी है कि हिन्दी गद्य के विकास में ईसाई पादरियों का सहयोग भी उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने स्कूलों में प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए हिन्दी गद्य की पुस्तकें लिखवायी, तथा व्याकरण और कोष भी तैयार कराया।

हिन्दी की खड़ी बोली का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। हिन्दी के स्थानीय भेद या उपभाषाएँ कई एक हैं। पर उनका चमत्कार अब फीका पड़ रहा है। उनमें रचनाएँ विशेषता पद्य में होती हैं, वह भी परिमित क्षेत्र में। अस्तु, खड़ी बोली का व्यवहार गद्य और पद्य दोनों में ही ज्यादा होता जाता है। इसमें मुसलमानों से भी बड़ी सहायता मिली है। वे उत्तर से दक्षिण, तथा पूर्व से पश्चिम, भारत के प्रत्येक प्रान्त में हैं, इस प्रकार उनके द्वारा दूसरी भाषा वाले प्रान्तों में भी खड़ी बोली का खूब प्रचार हुआ है।

उर्दू—हिन्दी की खड़ी बोली में फ़ारसी, अर्बी के शब्दों को मिलाकर बोली (और फ़ारसी लिपि में लिखी) जाने वाली भाषा [illegible] कहलाती है। इसके भी साहित्य की उन्नति, कविता से आरम्भ हुई।

इसके पद्य की सब से पहली उल्लेखनीय पुस्तक सन् १७६८ ई० की है। मीर अमन की प्रसिद्ध 'बाग़ोबहार' नाम की पोथी सन् १८०२ ई० में बनी। गद्य लिखने की चाल पीछे पड़ी। सन १८३७ ई० के लगभग, उर्दू पंजाब और संयुक्तप्रान्त के दफ़्तर तथा अदालतों की भाषा हो गयी। हिन्दी-उर्दू का वादविवाद बहुत पुराना नहीं है। पहले मुसलमानों में उर्दू की तरफदारी न थी, वे हिन्दी की अच्छी सेवा करते थे। जायसी, अकबर, रहीम, रसखान आदि के नाम हिन्दी साहित्य में अमर हैं। पिछले इतिहास में समय-समय पर देश में कभी साम्प्रदायिकता की लहर उठी, कभी राष्ट्रीयता का आन्दोलन ज़ोरों पर हुआ। पहली लहर, वादविवाद और अलहदगी बढ़ाती है, और राष्ट्रीय आन्दोलन दोनों भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाता है। जागृति-काल में साम्प्रदायिक भावनाओं को दूर करने का खासा काम हुआ, और समय समय पर कुछ सफलता भी दिखायी दी, परन्तु ब्रिटिश शासक राजनैतिक चालों से राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाते रहे। तथापि जब कि भारतवर्ष राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने और राष्ट्रीय स्वरूप धारण करने के लिए कमर कसे हुए है, इन बाधाओं का अन्त होकर ही रहेगा।

राष्ट्र-भाषा और हिन्दुस्तानी — भारतवर्ष की भाषाओं में हिन्दी का व्यवहार सब से ज्यादा है, इसे बोलने और समझनेवाले सब से अधिक हैं; और, यह भारतीय संस्कृति के बहुत नजदीक है। समय-समय पर अनेक साधु-सन्तों और सुधारकों ने अपने-अपने प्रान्त आदि के भेद-भाव को भुलाकर इसे ही अपनाया। अब तो यह भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुँच रही है। मदरास और आसाम तक में, उत्साही स्वयंसेवकों ने, इसका प्रचार कर दिया है; वहाँ

कितने ही प्रौढ़ और बूढ़े भी इसे सीख चुके हैं या सीख रहे हैं।

कुछ समय से लोगों के सामने यह सवाल है कि हिन्दी और उर्दू के मिले जुले रूप हिन्दुस्तानी को देश-भाषा या राष्ट्र-भाषा मानकर उसका प्रचार किया जाय। मई सन् १९४२ ई० में म० गांधी ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा कायम की। पर इसके बाद जल्दी ही सदस्यों के जेल चले जाने से इस सभा का काम रुका रहा। नवम्बर १९४४ में सभा का सालाना जलसा हुआ और काम किया जाने लगा। सभा के पहले सम्मेलन में, फरवरी १९४५ में, दो प्रस्ताव पास हुए। पहला प्रस्ताव देवनागरी और उर्दू लिपियों को लोकप्रिय बनाने के सम्बन्ध में था। उसमें कहा गया कि जो इनमें से किसी एक लिपि को जानते हों, उन्हें दूसरी लिपि, और जो किसी भी लिपि को न जानते हों उन्हें दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। दूसरे प्रस्ताव में एक कमेटी बनाने के लिए कहा गया, जो कोष तैयार करने, व्याकरण और कोष के नियम निश्चित करने और उपयुक्त साहित्य तैयार करने का काम करे।

लिपि के बारे में आगे लिखा जायगा। कमेटी का कर्तव्य है कि हिन्दी और उर्दू का, और साथ ही भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं का ध्यान रख कर हिन्दुस्तानी का रूप निश्चित करे। यह साफ जाहिर ही है कि सर्वसाधारण के काम में आने वाली भाषा जितनी सरल हो, अच्छा है। हमें जान-बूझ कर हिन्दी में कठिन (संस्कृत के भी) शब्दों का समावेश न करना चाहिए और उर्दू (या फ़ारसी, अर्बी) ही नहीं, अंगरेज़ी आदि के भी उन शब्दों का व्यवहार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, जिन्हें जनता आसानी से समझ सके। परन्तु ऊंचे साहित्य या वैज्ञानिक विषयों के लिए नये शब्दों की जरूरत होने पर,

उन्हें संस्कृत से बनाना उचित होगा, कारण, कि हमें अपनी राष्ट्र-भाषा में विविध प्रान्तों की आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए, और इस विचार से संस्कृत ही हमारी सब से अधिक सहायक हो सकती है।

राष्ट्र-लिपि—जागृति-काल में राष्ट्र-भाषा की भांति राष्ट्र-लिपि का भी विचार और प्रचार होना अनिवार्य था। लिपि में प्रधानतया ये गुण देखे जाया करते हैं—(१) सौंदर्य्य, (२) शीघ्र-लेखन और (३) निश्चय, अर्थात् जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय; उसमें शंका न हो सके। इनमें निश्चय सबसे बढ़कर आवश्यक है। इस विचार से फ़ारसी (उर्दू) और रोमन लिपि तो बहुत घटिया एवं अयोग्य हैं। इनके अलावा मदरास प्रान्त के बाहर, भारतवर्ष की प्रधान लिपियाँ नागरी, बंगला, पंजाबी, मराठी, और गुजराती हैं। इनमें मराठी लिपि नागरी से प्रायः मिलती हैं, और सब बातों का विचार करके देखने से बंगला, गुजराती और पंजाबी लिपियों से, नागरी लिपि कुछ कम नहीं रहती। शीघ्र-लेखन के लिए आवश्यकता होने पर इसके अक्षरों के ऊपर की रेखाएं हटायी जा सकती हैं। ऐसा करते समय ख, ध, भ, को गुजराती से, और ण को पंजाबी लिपि से, ले लेने से यह काम ठीक हो सकता है।

नागरी लिपि का देश में इस लिए भी बहुत मान है कि यह यहाँ की दूसरी सब लिपियों से पुरानी है। पं० केशवप्रसाद शास्त्री का मत है कि बङ्गला अक्षर या हरफ तेरहवीं सदी में बने, तथा गुरुमुखी और गुजराती अक्षर सोलहवीं, सतरहवीं सदियों में। कम से कम दसवीं सदी तक ये कोई स्वतन्त्र लिपियाँ न थीं। ये हमारे अक्षरों से निकली हैं; जब कि देवनागरी अक्षर अशोक

के समय से चले आते हैं; हाँ, समय के साथ, इन में कुछ परिवर्तन होता रहा है।

यदि प्रचार का विचार किया जाय तो हमारे हरफ बिहार, संयुक्तप्रान्त, बम्बई, राजपूताना, गवालियर, मध्यदेश और आधे पञ्जाब में प्रचलित हैं, और, बङ्गला, गुरुमुखी, गुजराती हरफ एक-एक प्रान्त में ही चलते हैं। इस प्रकार सब बातों को मिलाकर देखने से, देवनागरी हरफ ही राष्ट्र-लिपि के तौर पर काम में आने के योग्य हैं। यह बात अब सर्वमान्य होती जा रही है। समय समय पर इस बात का प्रयत्न किया गया कि अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य इसी लिपि में प्रकाशित हो, जिससे लोगों को उन्हें समझने में आसानी हो।

देवनागरी लिपि भारतवर्ष की ही नहीं, संसार भर की लिपियों में सब से अधिक शुद्ध है। हां, शिक्षा और छपाई की सुविधा के विचार से, इसके कुछ हरफों के साधारण और कुछ के मिले हुए रूप में परिवर्तनों की आवश्यकता मालूम हो रही है। उदाहरण के लिए 'अ' की बारहखड़ी (अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, आदि), तथा मिले हुए हरफों को तोड़ कर (यथा—ग्र को ग्‌र, क्ष को क्‌ष, क्त को क्‌त) लिखने के विषय में आन्दोलन हो रहा है। इस आन्दोलन में महाराष्ट्र ने प्रमुख भाग लिया है; वहाँ कई पत्र-पत्रिकाओं के प्रयत्न से इसमें बहुत सफलता भी मिली है। अब तो यह प्रश्न अखिल भारतवर्षीय रूप धारण कर रहा है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, की उपसमितियाँ इस के लिए नियुक्त हैं।

अब फारसी लिपि की बात लें, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, और

जिसे आम तौर से उर्दू लिपि कहा जाता है। शुरू में इस लिपि का इस्तेमाल मुसलमान ही करते थे। मुसमलान बादशाहों के समय में कितने ही हिन्दुओं ने इसे अपना लिया। पीछे यहाँ अँगरेज सरकार ने इसे अदालतों में जारी करके और सिक्कों आदि पर स्थान देकर इसका महत्व और प्रचार बढ़ाया। कांग्रेस ने भी समझौते की भावना से इस लिपि को देवनागरी की बराबरी का पद दे रखा है। सन् १९३७ से १९३९ तक जिन प्रान्तों में कांग्रेस सरकारें थीं, उनमें उनके द्वारा, और दूसरे प्रान्तों में मुसलमान या अंगरेज़ अधिकारियों द्वारा इस लिपि को खूब प्रोत्साहन मिला। इस समय हिन्दुस्तानी प्रचार सभा देवनागरी लिपि के साथ इस लिपि के भी प्रचार की जो कोशिश कर रही है, उसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। कोई लेखक या कार्यकर्ता जितनी लिपियाँ सीखे, अच्छा है; लेकिन हरेक आदमी के लिए दोनों लिपियाँ सीखना न सहल ही है, और न जरूरी ही। इस विचार से इसका बहुत विरोध हो रहा है। इस समय हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के बारे में बहुत शंकाएँ है। आशा है, थोड़े बहुत समय में यह बात दूर हो जायगी, और मुसलमान पक्षपात या तरफदारी छोड़कर देवनागरी लिपि के गुणों का आदर करेंगे, और इस लिपि को अपनावेंगे।

प्रचार-कार्य—जगह जगह देशी भाषाओं का प्रचार और उन्नति करनेवाली संस्थाएँ काम कर रही हैं। ये संस्थाएँ प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करती है, पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ छपाती हैं, ऊँचे दर्जे के लेखकों को पुरस्कार देती है और सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की ओर दिलाती हैं। सुप्रसिद्ध साहित्यसेवियों को अभिनन्दन-ग्रन्थ देने और उनके नाम पर साहित्यिक मेले करने का

काम होने लगा है। उनकी जयन्तियाँ मनाने की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। प्रचारक संस्थाएँ सभी भाषाओं की हैं। हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि सम्बन्धी कार्य करनेवाली कुछ मुख्य संस्थाएँ ये हैं—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर; दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मदरास; नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा; आदि। भारतीय राष्ट्र-सभा अर्थात् कांग्रेस का कार्य सन् १९१५ ई० तक अधिकतर अंगरेजी में रहा। पीछे उसका क्षेत्र सर्वसाधारण जनता में बढ़ने से, हिन्दी और उर्दू का उपयोग अधिकाधिक होने लगा। कई नयी ग्रन्थमालाएँ विशेषतया राजनैतिक उद्देश्य से निकलने लगीं; पत्र-पत्रिकाओं को भी अच्छा प्रोत्साहन मिला।

समालोचना—पहले प्राचीन कवियों और लेखकों की कृतियों की, आंख मीच कर प्रशंसा की जाती थी। अब तो कालीदास और सूर आदि की रचनाओं की आलोचना करनेवाले लेखक भी सामने आते जा रहे हैं। असल में किसी साहित्यकार के लिए हृदय में आदर और श्रद्धा रखने का यह मतलब न होना चाहिए कि हम उसकी ऐसी भी रचना का प्रचार करें, जिससे समाज के किशी अंग का अपमान या अहित हो। साहित्य के बारे में अपना मत जाहिर करते समय, हमें अन्ध श्रद्धा, पक्षपात या दलबन्दी के भावों से ऊपर उठना चाहिए। खेद है कि बहुत से समालोचक अपने महान उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं। वे अपने परिचित या जान पहचान के लेखक की रचना की बहुत ज्यादा प्रशंसा कर डालते हैं; वे उसे युग-परिवर्तनकारी कह देते हैं। अपने मित्रों को लेखक-सम्राट्, या कवि-सम्राट् आदि पदवियां प्रदान करने में उन्हें कुछ संकोच नहीं होता। यद्यपि कुछ पत्र-

पत्रिकाओं में अच्छी निष्पक्ष समालोचनाएँ होने लगी हैं, अभी इस विषय की और भी अच्छी व्यवस्था होने की बहुत आवश्यकता है।

साहित्य सम्बन्धी कुछ बाधाएँ और उनका निवारण—हमारे साहित्य के प्रचार और वृद्धि में कई बाधाएँ रही हैं। अधिकारी वर्ग प्रेस (पत्र-पत्रिकाओं आदि) की शक्ति को शङ्का तथा भय की दृष्टि से देखता रहा। प्रेस एक्ट के गला-घोटू कानून ने साहित्य के अधिक स्वतंत्र भाग को प्रकाश में नहीं आने दिया, तथा प्रकाशित साहित्य के एक अच्छे भाग को बेआयी-मौत मार दिया। साहित्य में अश्लीलता अथवा अन्य दुर्गुण को दूर करने के लिए, निस्संदेह कड़े नियम होने चाहिएँ, परन्तु प्रेस एक्ट तो देशभक्ति वा राजनीति के ग्रन्थों के छपने में बाधक रहा। [सन् १९३७-३९ में विशेषतया कांग्रेसी प्रान्तों में परिस्थिति कुछ सुधरी रही।] साहित्य के कार्य में, दूसरी बाधा देश में शिक्षा की कमी और निर्धनता है। उच्च शिक्षा की कमी से यहाँ अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं, और जन साधारण के अधिकांश अनपढ़ और ग़रीब होने से, लेखकों के कार्य की मांग भी काफ़ी नहीं है। कुछ सौभाग्यशाली अपवादों को छोड़ कर, प्रायः उन्हें मेहनताना या पारिश्रमिक बहुत कम मिलता है। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से, उन्हें अपनी आजीविका के लिए, अकसर अपनी रुचि के विरुद्ध कार्य करने पड़ते हैं। ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है, जो लेखकों को आश्रय या ऐसा कार्य दें, जिससे वे निश्चिन्त साहित्यिक जीवन बिता सकें। धनी रईसों, सेठ-साहूकारों, राजा-महाराजाओं का, तथा स्वयं राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि उत्तम लेखकों की साहित्य-सेवा से जनता को यथेष्ट लाभ पहुँचाने के लिए, उनके निर्वाह या गुजारे का अच्छा इन्तजाम करें। हाल में राष्ट्र-कवि

मैथिलीशरण जी गुप्त की अध्यक्षता में 'साहित्यकार-संसद' नाम की एक संस्था कायम हुई है, जो लेखकों के हितों की रक्षा करेगी, और ऐसा कोष स्थापित करेगी, जिससे संकट में फँसे हुए लेखकों तथा उनके परिवारों की मदद की जाय।

लेखकों का पारस्परिक सहयोग—यह खेद का विषय है कि लेखकों का आपस में सहयोग बहुत कम है; कोई संस्था ऐसी नहीं है, जो लेखकों को ठीक सलाह दे। बहुधा कई-कई लेखक एक ही विषय की लगभग एक ही तरह की, पुस्तक लिखने में मेहनत करते रहते हैं, अथवा अंगरेजी आदि की एक ही पुस्तक का अनुवाद करने लग जाते हैं। यदि यह मालूम हो जाया करे कि कहाँ कौन लेखक किस तरह की पुस्तक लिख रहा है, तो लेखकों की शक्ति और समय की बड़ी बचत हो। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय की आवश्यक सूचनाएँ छपने लगी हैं। लेखकों के संगठन का प्रयत्न समय-समय पर हुआ है, आशा है, इसमें शीघ्र सफलता मिलेगी।

लेखकों से अनुरोध—हम अपने साहित्य-सेवी भाइयों से निवेदन करना चाहते हैं कि वे कोई पुस्तक केवल इसी विचार से न लिखें कि बाजार में उसकी खपत हो जायगी। उनका उद्देश्य यह होना चाहिए कि उनके कार्य से भारतवर्ष को इस युग में अपनी जीवन-यात्रा भली प्रकार तय करने में सहायता मिले। दुख की बात है. देश निर्धनता और पराधीनता से व्याकुल है, और हमारे अधिकांश लेखक अपने दीन-दुखी भाइयों की दशा और आवश्यकताओं को प्रकट नहीं करते। कितने ही आदमी क़लम हाथ में लेकर अपने आपको इस दुनिया से दूर के प्राणी मानकर किस्से, कहानी, उपन्यास, नाटक, नख-शिख, नायक-नायिका भेद आदि की उड़ान में लगे रहते हैं। देश

की जागृति चाहती है, कि इसमें सुधार हो। जनता को अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, व्यवहार शास्त्र, नीतिशास्त्र, कृषि, विज्ञान, देशों का उत्थान और पतन आदि विषयों का जानकार होना बहुत ज़रूरी है। इन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य हमें अपनी भाषा में लाने के वास्ते, संसार की उन्नत भाषाओं की सहायता लेने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे उत्साही सज्जनों की आवश्यकता है जो जनता को इन भाषाओं के अच्छे साहित्य का परिचय कराने में लगे रहें। रूसी, फ्राँसीसी और जर्मन भाषाओं के ही नहीं, खास एशियाई भाषाओं के भी जानकारों की हमारे यहाँ बड़ी कमी है। आशा है, इस स्थिति में आवश्यक सुधार होगा और हमारे यहाँ अच्छा साहित्य काफी बढ़ेगा।

साहित्य का विशाल स्वरूप—अब तक हमारे बहुत से लेखकों ने सेवा और त्याग के भाव से साहित्य-पूजा करते हुए भी साहित्य-देवता के पूरे स्वरूप का दर्शन नहीं किया। उन्होंने उसके एक हिस्से को पूरी चीज़ समझा। इससे 'सहित्य' शब्द संकीर्ण अर्थ में काम आने लगा। उसका मतलब कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सरस सुपाच्य (जल्दी हज़म होने वाला), मधुर और मनोरंजक साहित्य ही रह गया। धीरे-धीरे दर्शन, और इतिहास को भी साहित्य कहलाने का गौरव मिला। विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति आदि को उसमें कुछ स्थान न मिला; अथवा जो मिला, वह इन विषयों की उपयोगिता और आवश्यकता की तुलना में (देश की गरीबी और पराधीनता के विचार से), नहीं के बराबरा रहा। साहित्य संस्था का अर्थ हो गया, इन विषयों को छोड़कर अन्य साहित्य से सम्बन्ध रखने वाली संस्था। जहाँ साहित्य के प्रचार या प्रोत्साहन की बात आयी तो समझ लिया

गया कि अर्थशास्त्र और राजनीति आदि तो हमारे कार्यक्षेत्र से बाहर ही है। संतोष की बात है कि अब इसमें कुछ सुधार हो रहा है।

हमने 'हिन्दी मे अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य' नाम की पुस्तक में यह बताने की कोशिश की है कि हिन्दी में इस समय अर्थशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी कितना साहित्य है, और इनकी किस किस शाखा के सम्बन्ध में कैसी कैसी पुस्तकों की आवश्यकता है। अगर भूगोल, इतिहास, विज्ञान, काव्य आदि दूसरे विषयों के विद्वान अपने-अपने विषय के साहित्य का इस तरह परिचय दें तो हमें हिन्दी साहित्य के पूरे स्वरूप की जानकारी हो सकती है, और इसके भंडार को बढ़ाने के लिए लेखकों को अच्छा परामर्श मिल सकता है।

ग्रन्थ-प्रकाशन—पुस्तकें लिखने और लिखाने के बारे में पहले कहा जा चुका है। परन्तु पुस्तकों के प्रकाशन का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। यद्यपि सभी प्रान्तों में जहां तहाँ प्रकाशक समितियां बन गयी हैं, बहुत से अच्छे लेखकों की कितनी ही रचनाएं पड़ी सड़ रही हैं, और छपाने के झंझटों के कारण कितने ही कलाकारों की कलम रुकी रहती है। क्या हमारे प्रकाशक दस फ़ी सदी पुस्तकें भी, निस्वार्थ भाव से, नफ़े की आशा छोड़कर, प्रकाशित करने का विचार न करेंगे? समय का तक़ाजा है कि वे बाज़ार की परवाह न कर, अपनी धुन में मस्त पागलों की भांति आगे बढ़े चलें, तभी अगली पीढ़ी के वास्ते रास्ता कुछ साफ होगा। अस्तु, ऐसी व्यवस्था की भी बहुत आवश्यकता है जिससे अच्छी पुस्तकें तैयार होते ही छपा दी जाया करें—चाहे, उनके प्रचार से आर्थिक दृष्टि से कुछ फायदा न हो कर नुकसान ही रहे। आज कल अच्छे-अच्छे विषयों की, तथा अच्छे ढंग से प्रकाशित होनेवाली, पुस्तकों की संख्या धीरे धीरे बढ़ रही है, परन्तु यह वृद्धि बहुत कम है।

ग्रन्थ-व्यापार—पुस्तकों के व्यापार में भी बड़ा अन्धेर मचा हुआ है। बहुतेरे दूकानदार दूसरों को वे ही पुस्तकें बेचने के लिए रखते हैं, जिन पर उन्हें कमीशन अच्छा मिलता है। कोई-कोई तो एक-दो पुस्तकें अपनी छपा कर रख लेते हैं। इनकी क़ीमत इतनी अधिक रखी जाती है कि ६० या ७० फ़ी सदी तक कमीशन दिया जा सके; इन पुस्तकों के थोक ख़रीदार दूसरे स्थानों की पुस्तकों पर भी इतना ही कमीशन लेने की आशा करते हैं; इससे दूसरे प्रकाशक भी अपनी पुस्तक की क़ीमत अधिक रखने की ओर झुकते हैं। अधिक क़ीमत वाली पुस्तकों के परिवर्तन की नीति भी बहुत अनिष्टकारी है; जिन लोगों ने अपनी पुस्तक की क़ीमत कम रखी हो, उन्हें परिवर्तन में सरासर नुकसान रहता है। इससे पुस्तकों की क़ीमत बढ़ने की सम्भावना होती है। इन बातों के विरुद्ध संगठित आन्दोलन किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्य—यों तो राष्ट्र-सभा कांग्रेस की स्थापना के समय से ही राष्ट्रीय आन्दोलन हो रहा है, पर सन् १६१६ ई० से तो यह आन्दोलन सर्वसाधारण जनता का आन्दोलन हो गया है। समय समय पर आन्दोलन का ज्वारभाटा या उतार-चढ़ाव हुआ, और, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न होगी, आन्दोलन चलता रहेगा। इसलिए यह सोचना है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। पिछले वर्षों में कुछ पत्र-पत्रिकाओं को सरकारी दमन का शिकार होना पड़ा; बहुत से आदमियों के जेल में जाने के कारण, अच्छे सामयिक तथा गम्भीर साहित्य के पढ़नेवालों की कमी हो गयी। यह भी कहा जा सकता है कि आंदोलन के अशांत वातावरण में, पढ़नेवाला या लिखनेवाला आदमी

एकान्त में बैठकर शाँति से अपना काम नहीं कर सकता। परन्तु इन सब बातों का दूसरा पहलू भी तो है। असल में साहित्य वह है, जो हमें किसी भी प्रकार की पराधीनता सहन न करने दे, जो हमारे सोये हुए मनुष्यत्व या इनसानियत को जगा दे, हमारी कायरता को हटाकर हमें मर्द बना दे; और, मनुष्य के योग्य कर्तव्यों का पालन करना, और अधिकारों को प्राप्त कर उनका सदुपयोग करना, सिखा दे। ऐसा राष्ट्रीय अथवा लोकोपयोगी साहित्य हर समय या हर दशा में नहीं रचा जा सकता। इसके लिए लेखकों में तप और त्याग के भावों की आवश्यकता होती है, तभी अनुकूल वातावरण पैदा होता है। जो बातें देश में ऐसे भावों को बढ़ाती हैं, वे सच्चे लेखकों, कवियों, और साहित्य-सेवियों को पैदा करने में सहायक होती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तप और त्याग की भावना वाले राष्ट्रीय आन्दोलन से ऐसी परिस्थिति पैदा होती है, जब कि नागरिक ऊँचे दर्जे के विचारों और साहित्य का आदर करते हैं।

भारतीय साहित्य का गौरव—अभी तो जहाँ तहाँ ऐसे भारतवासी भी मिल जाते हैं, जिन्हें यहाँ के साहित्य में कोई विशेषता या खास बात नहीं मिलती, जो पश्चिमी देशों की रचनाओं के लिए ही लालायित रहते हैं। परन्तु वह समय जल्दी आनेवाला है, जब भारतीय ही क्या, समस्त संसार के विद्वान भारतीय साहित्य का आदर-मान करेंगे। आवश्यकता है कि हम ऊंची साधना करें, जीवन को अच्छा बनाएँ, और भारत के ऊंचे विचारों को दूसरे देशों के भी मनुष्यों की समझ में आ सकने वाली भाषाओं में प्रकाशित करें। भारतीय सभ्यता से संसार को अहिंसा, निष्काम कर्म, विश्व-बन्धुत्व आदि बहुत सी बातें सीखनी हैं, और हमारा साहित्य पश्चिम में पूर्व

की ज्योति या रोशनी फैलायेगा, और सब भेद-भाव मिटाकर सारे मनुष्यसमाज की एकता स्थापित करेगा !

× × ×

पत्र-पत्रिकाएँ—हम यह बतला चुके हैं कि पिछली सदियों में हमारे ग्रन्थ-भण्डार की कैसी वृद्धि हुई। परन्तु जागृति का कार्य कुछ विशेष रूप से होने के लिए आवश्यकता थी, कि मनुष्यों को अपने साधारण कार्यक्षेत्र से बाहर की दुनियाँ का यथा-समय परिचय होता रहे। यह कार्य समाचारपत्रों ने किया। पत्रपत्रिकाएं साधारणतया इस युग की सृष्टि हैं।

समाचारपत्रों का आरम्भ—समाचारपत्र की तरह ठीक समय पर प्रकाशित होनेवाला सब से पहला सरकारी पत्र 'कलकत्ता गज़ट' था। निजी तौर से प्रकाशित पत्र 'बङ्गाल गजट' कलकत्ते में, जनवरी १७८० ई० से आरम्भ हुआ। यह योरपियन समाज का मुखपत्र था। पीछे इसका नाम 'कलकत्ता जनरल ऐडवरटाइज़र' रखा गया। कुछ दिनों बाद यह पत्र तो चल बसा, परन्तु दूसरे कई योरपियन पत्र निकलते रहे। पहिली देशी पत्रिका १७६१ ई० में 'कलकत्ता चन्द्रिका' सती-प्रथा का पक्ष लेकर प्रकाशित होने लगी। इसके जवाब (विरोध) में राजा राममोहन राय की 'सम्वाद कौमुदी' निकली। इसमें कभी-कभी सरकारी बातों की सूचना प्रकाशित की जाती थी; राजनैतिक विषयों की टीका टिप्पणी बहुत कम होती थी। इसका साधारण कार्यक्षेत्र सामाजिक, धार्मिक तथा शिक्षा सम्बन्धी था। राजा साहिब प्रेस की स्वाधीनता के उद्योग करनेवालों में अगुआ थे। उन्नीसवीं सदी के पहले दस वर्ष तक यहाँ प्रेस अधिकांश में अंगरेजों ने चलाया। हिन्दुस्तानियों से चलाया हुआ देशी भाषा का

प्रेस पीछे स्थापित हुआ, और उसके बाद हिन्दुस्तानियों के चलाये हुए अंगरेजी भाषा के प्रेस का नम्बर आया। सब से पुराना देशी पत्र 'बम्बई समाचार' है। इसका जन्म सन १८२२ ई० में हुआ था।

जब से समाचारपत्र निकले, तभी से सरकार और सम्पादकों के बीच चौथा-चन्द्रमा रहा है। योरपियन समाचारपत्र 'बङ्गाल जनरल' के सम्पादक को सन् १७९४ ई० से देशनिकाले का दण्ड दिया गया था। सन १८३४ ई० तक प्रेस पर सरकार की बड़ी कड़ी निगाह रही, और, बहुधा गवर्नमेंट के कामों की समालोचना करने-वालों को देशनिकाला होता रहा। १८३५ में सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने प्रेस को स्वाधीनता दी। इस समय से देशी भाषाओं के प्रेस की उन्नति और अङ्गरेजी भाषा के प्रेस का विकास हुआ। ईश्वरचन्द्र गुप्त का 'प्रभाकर' देशी भाषा का सम्भवतः पहला पत्र था, जिसने राज-नैतिक क्षेत्र में कदम रखा; हाँ, वह बहुत फूंक-फूंक कर पाँव रखनेवाला था। सन् १८५७ ई० की राजक्रान्ति के अवसर पर, समाचारपत्रों पर बड़ा नियंत्रण रहा, परन्तु उससे उनकी स्वाभाविक वृद्धि मे खास बाधा न आयी। १८६७ तक समाचारपत्रों को कुछ स्वाधीनता रही, परन्तु भारतीय प्रेस की ताकत को बहुत बढ़ते हुए देखकर अधिकारी-वर्ग चकित हो गया; और, १८६९ में पहला प्रेस एक्ट (छापाखाना कानून) बना कर उसने समाचारपत्रों पर कुछ कैद लगादी। लार्ड मेओ ने १८७० में कुछ बंधन दूर किये, परन्तु १८७२ में वह कानून सारे भारत में जारी कर दिया गया। पीछे लार्ड लिटन ने कितने ही पत्रों का मुंह बंद किया। यद्यपि लार्ड रिपन के समय में कुछ सुधार हुआ, साधारण तौर से नियम ज्यादा कड़े ही होते गये। इन विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, भारतीय प्रेस की उन्नति होती रही।

पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार—सन् १८७५ ई० में इस देश में समाचारपत्रों की संख्या लगभग पांच सौ थी। इनमें से ज्यादातर पत्र भारतीय भाषाओं के थे, जिनका जनता में अच्छा प्रचार था। कुछ सस्ते स्वार्थत्यागी पत्रों ने जनता में जागृति का संदेश पहुँचाने में खूब योग दिया। इनसे पाठकों को विविध प्रकार के समाचार, विचार और आलोचनाओं का ज्ञान होने लगा। बहुधा अखबार वालों के यहाँ, तथा दूकानों पर उत्साही युवक, जो पत्र को स्वयं नहीं पढ़ सकते थे, इकट्ठे होकर उन्हें दूसरे से पढ़वा कर सुनने लगे। क्रमशः गरीब अमीर, सेठ साहूकार, देहाती तथा शहरी सब प्रकार के लोगों में पत्रों का शौक बढ़ने लगा। एङ्गलो-इंडियन पत्र भी उन दिनों अधिक उदारता से काम लेते थे, और पाठकों को पाश्चात्य विचारों का परिचय देते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारतवर्ष के हरेक प्रान्त में अंगरेजी तथा भारतीय भाषाओं के कुछ ऊंचे दर्जे के पत्र निकलने लग गये। ये जनता पर बड़ा प्रभाव डालने वाले और राष्ट्रीय भाव भरने वाले साबित हुए। पीछे जब एंग्लो-इन्डियन पत्र भारतीय हितों का विरोध करने लगे, तो इन पत्रों ने उनका खंडन करने में भी कुछ कसर उठा न रखी।

वर्तमान स्थिति—जागृति में सहयोग देनेवाले विविध पत्र-पत्रिकाओं के वर्णन के लिए यहाँ स्थान नहीं। साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि पहले पत्रों की कीमत बहुत होती थी, मामूली हैसियत के आदमी उन्हें खरीद नहीं सकते थे। ज्यादातर पत्र धनवानों के सहारे चलते थे, उनके ग्राहक बहुत थोड़े होते थे, अकसर ठीक समय पर नहीं निकलते थे और उनका कोई खास उद्देश्य या नीति नहीं होती थी। अब हालत धीरे-धीरे सुधर रही है। कितने ही अच्छे-अच्छे पत्र ग्राहकों और विज्ञापनदाताओं के सहारे ही अच्छी

तरह चल रहे हैं, निर्धारित समय पर प्रकाशित होते हैं, उनके ढङ्ग में भी नवीनता है, भाषा शुद्ध रखने का बहुधा ध्यान रखा जाता है। परन्तु, अभी उन्नति की बहुत गुंजाइश है। हमारे कितने ही पत्र उनके सञ्चालकों द्वारा अपनी वस्तुओं के विज्ञापन, साम्प्रदायिकता अथवा दलबन्दी की बातों के लिए निकाले जाते हैं, और जब चाहा बन्द कर दिये जाते हैं। पाठकों को उनकी स्थिरता का विश्वास नहीं होता, इसलिए उनके ग्राहक बहुत कम रहते हैं। अधिकांश मासिक पत्रिकाएँ पाठकों को पञ्चमेल मिठाई देने और सभी विषयों से विभूषित बनने का प्रयत्न करती हैं। वे प्रत्येक अङ्क में दो-दो तीन तीन कहानियाँ देना आवश्यक समझती हैं। कविता के नाम पर भी कुछ होना ही चाहिए। यदि कोई पत्रिका किसी विषय को छोड़ना चाहती है तो वह राजनीति से अलग रहने की सूचना सबसे पहले देती है। उन पत्रिकाओं का जीवन दूभर रहता है, जो किसी एक ही विषय की सेवा में लगी रहना चाहती हैं। इस समय 'भूगोल' 'विज्ञान', 'खादी पत्रिका' आदि अपनी खास धुन में चली जा रही हैं तो यह इनके सञ्चालकों के भारी त्याग का फल है। हमारी ज्यादातर पत्रिकाएँ 'साहित्यिक' हैं, उनमें कुछ कुछ चर्चा सामयिक विषयों की भी होती है। हिन्दी में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के लेख खास तौर से 'विश्वमित्र', 'विशालभारत', 'विश्ववाणी' और 'विश्वभारती' आदि में मिलते ही हैं। 'कल्याण' इस समय (सन् १९४५) लगभग बानवे हज़ार छप रहा है; इससे हिन्दी पाठकों की रुचि का कुछ अनुमान हो सकता है।

विदेशों में भी समय-समय पर हिन्दी या दूसरी भारतीय भाषाओं के पत्र निकालने के प्रयत्न हुये हैं। मिसाल के तौर पर श्री० भाई

भवानीदयाल जी ने जेकब्स, नाटाल (दक्षिण अफ्रीका) से 'हिन्दी' नाम का अच्छा अंगरेजी-हिन्दी साप्ताहिक कई वर्ष तक निकाला। मोरीशश, फ़िजी, केनिया, सुरीनाम, जंजीबार, टंगानिका से हिन्दी या गुजराती के पत्र प्रकाशित हुए हैं। कुछ बन्द हो गये, और कुछ चल रहे हैं। खेद है कि कुछ सज्जन विदेशों में भी अपना पत्र धार्मिक खंडन मंडन की सामग्री से भरते रहते हैं।

विशेष वक्तव्य —सहित्य सम्बन्धी कुछ बाधाओं का जिक्र पहले किया जा चुका है; पत्र-पत्रिकाओं में, उनके अलावा कुछ विशेष बाधाएँ भी हैं। यहाँ राजभाषा अंगरेजी होने से, तथा तार आदि से सम्वाद मंगाने की सुविधा भी उसी भाषा में होने से, देशी भाषाओं के पत्रों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। फिर, हमारे सम्पादक कहे जाने वाले कुछ सज्जन अपनी स्वतन्त्र तथा उदार नीति नहीं रखते। वे अपने महान उत्तरदायित्व को नहीं समझते। वे इस कार्य के लिए विशेष तैयारी नहीं करते, और न इस विषय के आवश्यक साहित्य का अध्ययन ही करते हैं। हां, यह बात भी है कि देश में अभी पत्रकार-कला सम्बन्धी शिक्षा और साहित्य की भी बहुत कमी है। इस दिशा में बहुत प्रयत्न होना चाहिए। हमें अंग्रेजी पत्रों से बहुत सी बातें सीखनी चाहिएँ। उनके दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र कितने अधिक पृष्ठों के, और कितनी अधिक सामग्री और ऊँचे साहित्य वाले होते हैं; ये बातें अभी कुछ समय हमारे लिए आदर्श का काम दे सकती हैं। पत्र-पत्रिकाएँ ही देश के 'कम-खर्च बाला-नशीं' उपदेशक, अध्यापक, सुधारक और आन्दोलक हैं। निर्बल या कमजोरों के लिए लड़ना इन्हीं का काम है, इसलिए इनके प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। नगर-नगर से अच्छे-अच्छे पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित

होनी चाहिएँ। सम्पादकों के संगठन की भी बड़ी आवश्यकता है; इस कार्य की ओर समय-समय पर ध्यान दिया गया; कई प्रयत्न हुए, पर अभी काफ़ी सफलता नहीं मिली। आशा है, अधिक विचार-पूर्ण उद्योग किया जायगा।

भावी आशा—जगत के शिक्षित मनुष्यों के विचारों को परस्पर मिलाने के लिए साहित्य ने खूब उद्योग किया है। इसके प्रताप से इङ्गलैंड, जर्मनी, अमरीका, और जापान आदि राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों, व्यापारियों, आदि के विचार यहाँ जल्दी ही मालूम हो सकते हैं। संसार में अब पूर्व और पश्चिम पहले की तरह जुदा-जुदा नहीं रहे। हमारे देश में भी अब उत्तर दक्षिण का इतना अन्तर नहीं है। स्वतंत्रता की ध्वनि, या आज़ादी का नारा हर जगह गूँज रहा है। एक प्रांत के लोगों की दुख-भरी आवाज़ जल्दी ही दूसरे प्रांत के निवासियों को आकर्षित कर लेती है। इस प्रकार भारतीय शरीर में एकता और राष्ट्रीयता के भावों का प्रचार आसान होता जा रहा है।

हमें पूरी आशा है कि हमारे सामयिक तथा स्थायी साहित्य की वृद्धि तथा प्रचार की वर्तमान बाधाएँ बहुत समय तक न रहेंगी। देश का सौभाग्य-सूर्य उदय होगा। हम साहित्य की आधुनिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अंगरेजी आदि भाषाओं के आसरे न रहेंगे, हम स्वावलम्बी और स्वराज्य-भोगी होंगे; हम दूसरों से कुछ लेंगे तो उन्हें कुछ बहुमूल्य वस्तु दे भी सकेंगे। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतीय संस्कृति को अपना अहिंसा, प्रेम, त्याग, सेवा और भाईचारे का सन्देश संसार में फैलाना है; इस महान कार्य में हमारा साहित्य काफी हिस्सा लेगा।

वाँ अध्याय

विज्ञान और आविष्कार

आविष्कार करनेवाली प्रतिभा एक दैवी सम्पत्ति है, जिसका सदुपयोग रचनात्मक वस्तुओं के निर्माण में होना चाहिए; मानव प्राणियों के संहार में इसका उपयोग नहीं होना चाहिए। —डा० *शंकर विसे*

प्राकथन—वैज्ञानिक जागृति का मतलब यह है कि हम सृष्टि की विविध घटनाओं और दृश्यों सूर्योदय, बादलों की गर्ज, बिजली की चमक, वर्षा, ओलों के गिरने, ओस, बर्फ़, सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, भूकम्प और बाढ़ आदि—से हैरान या परेशान न होकर इनके रहस्यों को समझने की, 'क्यों' और 'कैसे' का जवाब पाने की, कोशिश करें; और, जल, वायु, भाप, और बिजली आदि की विविध शक्तियों के नियम जान कर मानव समाज के लिए अच्छे उपयोगी अनुसन्धान या खोज करें। विज्ञान संसार की अनेक निकम्मी मालूम होनेवाली चीजों को भी उपयोगी और बहुत कीमती बनाने के उपाय निकालता है; आदमी की मेहनत को कम करता है; हमारे हाथ पाँव आदि की शक्ति बढ़ाने के लिए नये-नये यन्त्रों का आविष्कार करता है, और किसी बात का अनुमान या विचार करने में बुद्धि और तर्क के उपयोग की प्रेरणा करता है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाला मनुष्य धार्मिक, सामाजिक, या आर्थिक, आदि किसी प्रथा में अन्ध-विश्वास या अंध-श्रद्धा न रखकर उसके सम्बन्ध में सत्य की खोज करता है। विज्ञान का क्षेत्र अनन्त है; जड़ चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, हरेक विषय का

अपना-अपना विज्ञान है। यहाँ विज्ञान से हम केवल भौतिक विज्ञान का आशय लेंगे, जैसा कि साधारण बोलचाल में लिया जाता है।

आधुनिक विज्ञान युग—खासकर उन्नीसवीं सदी से विज्ञान ने संसार का अजीब कायापलट किया है। भाप, और पीछे बिजली आदि की शक्तियों का आविष्कार हो जाने से नये-नये यंत्र बनने लगे। रेल, मोटर, ट्रामवे, हवाई जहाज, पनडुब्बियाँ, तार, बेतार का तार, टेली-फ़ोन, रेडियो आदि ने इस समय को मशीनों का युग बना दिया है। लोगों की रोज़मर्रा की ज़रूरतों की चीजें अब कल-कारखानों में तैयार होती हैं। बात बात में यन्त्रों से काम लिया जाता है। और, यह प्रवृत्ति ऐसी तेज़ी से बढ़ती जा रही है कि इसका कहां अन्त होगा, इसकी कुछ कल्पना करते नहीं बनती।

भौतिक परिवर्तनों का प्रभाव मानसिक जगत पर भी पड़ रहा है। श्रद्धा से बुद्धि का, रूढ़ियों से तर्क का, और अनुमान से प्रत्यक्ष का विकट संघर्ष हो रहा है। मनुष्यों के आचार-विचार में क्रांति हो रही है। आमदरफ़्त के साधनों ने दूर-दूर के लोगों का आपस में मिलना-भेंटना आसान कर दिया; आमदरफ़्त बढ़ने से प्रांतीयता का भाव घटने लगा, एक स्थान के निवासियों को दूसरे स्थान वालों के विचार, रहनसहन तथा सुख-दुखों का परिचय मिलने लगा, और भौगोलिक भेद दूर होने लगा। डाक, तार टेलीफ़ोन, समुद्री तार आदि ने जनता की आवाज़ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, नहीं-नहीं, सात समुद्र पार दूसरे देशों तक पहुँचने में, समय का बहुत अधिक लगना रोक दिया; लोगों के शारीरिक, व्यापारिक और मानसिक सम्बन्ध बढ़ाने में विलक्षण सुगमता कर दी। संसार कई बातों में एक हो रहा है, देशों की सीमाएं अब पहले की तरह उसके अलग-अलग टुकड़े नहीं करतीं।

विज्ञान और भारतवर्ष—भारतवासियों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय बहुत पुराने ज़माने में दे दिया था; ज्योतिष, रसायन, वैद्यक, बनस्पति आदि के इनके अनुसन्धान इस समय भी बड़े महत्व के माने जाते हैं। तो भी भौतिक विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगों की ओर, आधुनिक दृष्टि से इनका कार्य बहुत कम रहा है। असल में इन्होंने इसे जीवन में विशेष महत्व नहीं दिया। इसी लिए भारतवर्ष आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों में बहुत कम आगे बढ़ा। हमने अधिकतर पश्चिम वालों के आविष्कारों और यन्त्रों से लाभ उठाया है; यह कोई बुरी बात नहीं। परन्तु आवश्यकता है कि हमारी रुचि और मनोवृत्ति वैज्ञानिक अनुसंधान और आविष्कारों में बढ़े, और हम भी संसार के विज्ञान-ज्ञान को बढ़ाने में मदद दें। पिछले वर्षों में, कुछ विषयों में भारतवासियों ने अच्छी प्रगति की है; मिसाल के तौर पर टाइप राइटर और मुद्रण (छापेखाने) के सम्बन्ध में आगे लिखा जाता है।

टाइप रायटर और मुद्रण सुधार—अंगरेज़ी के 'टाइप राइटर' बनने के बाद, पाश्चात्य कम्पनियों ने हिन्दी के भी 'टाइप राइटर' बनाये, परन्तु उनसे लिपि-सौन्दर्य की रक्षा न हो सकी। अन्त में श्री० सेठ जमनालाल जी बजाज, वर्धा, के प्रोत्साहन से, अमरावती के श्री० अत्रे महाशय ने नागरी का एक सुन्दर टाइप करनेवाला यंत्र तैयार किया। 'टाइप राइटर' से एक बार में टाइप किये हुए सफ़े की तीन-चार से ज्यादा कापी अच्छी नहीं निकलतीं। यह साधारण पत्र-व्यवहार आदि के काम के लिए ही उपयोगी होता है। पर पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की हज़ारों प्रतियाँ छापनी होती हैं, उसके लिए, आजकल दो रीतियाँ प्रचलित हैं :—(१) सीसे के ढले हुए अक्षरों को जोड़कर

छापना, (२) पत्थर पर लिखे हुए अक्षरों से छापना। इन दोनों रीतियों में से पहली अधिक प्रचलित है। आधुनिक काल में यहाँ प्रेस का जन्म अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में हुआ। पहले पहल सन् १७७८ ई० में हुगली में बङ्गला भाषा का प्रेस खोला गया। उसके टाइप की देखा-देख देवनागरी के, और पीछे दूसरी भाषाओं के, टाइप बने, और प्रेस खुले, तथा साहित्य की वृद्धि होने लगी।

छापेखाने का बीज भारतवर्ष में बहुत पहले से था। मुहर पर अक्षर खोद कर छापने (मुद्रा) की प्रथा तो यहाँ पुराने जमाने से चली ही आती थी। प्रो० डाक्टर जोगेन्द्रनाथ घोष ने अपने एक लेख में जो सन् १८७० में नेशनल सोसाइटी में पढ़ा गया था, इस बात का जिक्र किया है कि सन् १७८० ई० के लगभग बनारस ज़िले में खोदने से दो प्रेस निकले थे, जिनमें वर्तमान प्रेसों की तरह टाइप इत्यादि सब सामान था, और टाइप जोड़ने का ढङ्ग भी बहुत कुछ आज कल के जैसा ही था। पुरातत्व (प्राचीन काल सम्बंधी विद्या) जाननेवाले अंग्रेजों का यह मत है कि यह प्रेस कम से कम एक हजार वर्ष पहले का है। अस्तु; छापे का व्यापक प्रचार यहाँ अंगरेजी राज्य से पहले होने का विशेष पता नहीं चलता।

देवनागरी के अक्षर, मात्रा, चिह्न और मिले हुए अक्षर आदि बहुत अधिक हैं। इस लिपि का प्रेस रखने के लिए टाइप बहुत ज्यादह खरीदना पड़ता है। फिर, इस टाइप को रखने के लिए 'केस' भी बहुत चाहिएँ। इससे टाइप और केसों में खर्च बहुत पड़ता है। फिर, कम्पोज (अक्षर जोड़ना) सीखने के लिए टाइपो के 'घर' याद करने में समय और मेहनत अधिक लगने से, काम महँगा पड़ता है पत्र-पत्रिकाएं तथा पुस्तकों की क़ीमत अधिक रहती है, उनका प्रचार कम हो पाता है। हाथ से कम्पोज करने की कठिनाइयों को दूर करने के लिए अब 'मोनोटाइप' यंत्र का आविष्कार किया गया है, जिसमें

मशीन द्वारा ही 'टाइप' ढलता और कम्पोज होता है। रोमन लिपि के (जिसमें अंगरेजी आदि भाषाएँ लिखी जाती हैं), छब्बीस अक्षरों को इस पर ठीक बैठाना आसान था। परन्तु, भारतीय लिपियों को इस यंत्र पर जमाना बहुत मुशकिल था। देवनागरी लिपि के सैकड़ों अक्षर, चिह्न, मात्राओं और संयुक्त अक्षरों को इस पर कैसे जमाया जाय, इस विषय में महाराष्ट्र विद्वानों ने वर्षों विचार किया। अन्त में अनाथ विद्यार्थी गृह, पूना, के श्री शंकरराव जी दाते बी० ए० ने प्रयत्न करके इसमें सफलता प्राप्त की। इस दिशा में दूसरा आविष्कार 'लाइनोटाइप' यंत्र का है। इसमें एक-एक अक्षर के बजाय पूरी लाइन या पंक्ति एक ही शीशे के टुकड़े में ढली हुई निकलती है। पंक्ति जुड़ी रहने से उसे उठाने में सुभीता तथा सुगमता होती है। इस यन्त्र का उपयोग भी पहले रोमन लिपि के लिए हुआ। देवनागरी लिपि के वास्ते इसका उपयोग करने के लिए श्री० हरिगोविन्द जी गोविल ने इस लिपि के सैकड़ों अक्षरों, चिह्नों और मात्राओं तथा संयुक्ताक्षरों को केवल ९० टुकड़ों में बांटने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

अब छपाई की बात लें। पहले यह काम हाथ से चलनेवाले छापेखानों ('हैंड-प्रेसों') में होता था। पीछे, प्रेस भाप या बिजली से चलाये जाने लगे। विशेषतया इश्तहार या सूचनाएँ आदि छापने के छोटे कार्यों को जल्दी करने के लिए 'ट्रेडल' का उपयोग होने लगा। अखबार और पुस्तकों को अधिक संख्या में छापने के लिए 'सिलिंडर' काम में आने लगे। एक दिन में आम तौर पर हैंड-प्रेसों पर एक हजार, 'ट्रेडल' पर पांच छः हजार, 'सिलिंडर' पर सात-आठ हजार प्रतियाँ छपती हैं। जनता में जागृति और शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ अधिकाधिक मुद्रण शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हो रही

है, और इसके फल-स्वरूप अब 'रोटरी' जैसे यन्त्रों का आविष्कार हो गया है, जिनमें एक दिन में कई लाख कागज आसानी से छप सकते हैं।

अभी मोनोटाइप, लाइनोटाइप और रोटरी आदि यन्त्रों का देवनागरी आदि स्वदेशी लिपियों की छपाई के लिए कम उपयोग हो रहा है। इसका कारण कुछ तो इन यन्त्रों का मूल्य अधिक होना है, और कुछ यह है कि जनता में शिक्षा का प्रचार कम है, और ज्यादातर आदमी बहुत गरीब हैं। इस लिए अभी यहाँ बड़े पैमाने का प्रकाशन कम हो रहा है। जैसे-जैसे इन बातों में सुधार होगा, इन यन्त्रों का अधिक प्रचार होगा, और जनता की जागृति बढ़ेगी।

कुछ और आविष्कार और यन्त्र—अब हम दूसरे मुख्य आविष्कारों और यन्त्रों का विचार करते हैं; इनमें से कुछ का भारतवर्ष में उपयोग हुआ है। यहाँ रेल तथा तार का काम लार्ड डलहौजी के समय (सन्१८४८ ई०) में आरम्भ हुआ। पीछे, इनकी धीरे धीरे उन्नति होती गयी। मोटर और टेलीफोन तो अब रईसों और व्यापारियों के रोज़मर्रा के उपयोग की वस्तु बन गयीं। टेलीफोन से, घर-बैठे आदमी दूर-दूर की मंडियों के बाजार-भाव मालूम करते हैं, और नित्य हजारों रुपये का माल खरीदा और बेचा जाता है।

बिजली ने निराला ही चमत्कार दिखाया है। बड़े बड़े शहरों क्या, बहुत से साधारण नगरों में भी, अब म्युनिसपेलटियों को रोशनी के लिए लेम्पों और उनके तेल-बत्ती आदि का इन्तजाम करने की जरूरत नहीं रही; ठीक समय पर सड़कों और बाजारों में खूब जगमगाहट हो जाती है। बटन दबाते ही घरों में भी बिजली की रोशनी हो जाती है। गहरी खानों में काम करते समय पहले लेम्पों की गर्मी से

विस्फ़ोट होने का बड़ा डर रहता था, तथा उनके धुएँ से बहुत तकलीफ होती थी। अब बिजली की रोशनी से वहाँ मजे से काम होता रहता है। इस के अलावा बिजली अब पंखों में भी काम देती है। अनेक दुकानों, घरों, और दफ्तरों से अब बिजली के पंखों ने, साधारण पङ्खों को, तथा पङ्खा-कुलियों को हटा दिया है। बिजली से कमरा गर्म रखने और खाना पकाने आदि का भी काम लिया जाता है।

'वायरलेस' अर्थात् बे-तार-के-तार द्वारा हज़ारों मील के समाचार क्षणों में भेजे जाते हैं। भारतवर्ष में भी इसका प्रयोग रहा है; यहाँ इसका नियन्त्रण सरकार के हाथ में है। विदेशों में तो इस शक्ति के द्वारा रेल, मोटर और जहाज चलाने का विचार हो रहा है। रेडियम की ताक़त हलों में पहुँचाकर खेती का काम और भी सरल करने का प्रयत्न किया जा रहा है। रेडियो के यन्त्र तो भारतवर्ष के भी अनेक स्थानों में लोगों के घरों में लगे हुए हैं। धनी लोग निर्धारित फीस देकर, विदेशों में होनेवाले भाषण तथा गाना-बजाना सुनते हैं। योरप अमरीका में इसका बड़ा प्रचार है; वहाँ तो अब वोट (मत) देने आदि का काम भी इसी के द्वारा लिये जाने का प्रयोग ही हो रहा है।

विज्ञान के द्वारा मनोरञ्जन के नये-नये उपाय निकाले गये हैं। पहले 'ग्रामोफ़ोन' आदि गाने की मशीनें चलीं। इनके सुरीले राग से आदमी मुग्ध हो गये। इन का प्रचार बड़ी तेजी से बढ़ा। फिर धीरे-धीरे सिनेमाओं ने अपनी छटा दिखानी आरम्भ की। चल-चित्रों तथा गानेवाली मशीनों के सामने भारतीय रंग-मंच भी फीका पड़ गया। पीछे 'टाकीज़' अर्थात बोलने वाले चल-चित्रों का आविष्कार हो जाने पर आदमी इस पर सहस्रों रुपये न्योछावर करने लगे। अब प्रत्येक बड़े शहर में एक-दो 'टाकी' होना ज़रूरी समझा जाता है। मनोरञ्जन

के इन साधनों से होनेवाला लाभ धीरे धीरे गौण हो चला है, हानि बढ़ती जा रही है, और युवक-युवतियों में उत्तेजना, चंचलता काम-लिप्सा या भोग-विलास बढ़ रहा है, जो बहुत चिन्ता की बात है।

प्राचीन काल में भारतवासियों ने वैद्यक-शास्त्र में बड़ी उन्नति की थी, परन्तु इस युग में प्रगति नहीं की। अब तो जहाँ देखो, शहरों और नगरों में पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली (एलोपेथी, बायोकेमी, होमियोपेथी आदि) का प्रचार है, और भारतवासी बड़ी मात्रा में विदेशी औषधियो का सेवन कर रहे हैं। हाँ, इसका बहुत कुछ दायित्व सरकार पर भी है; वह वैद्यों और देशी औषधियों को प्रोत्साहन नहीं दे रही है।

पाश्चात्य चिकित्सा में, खासकर चीराफाड़ी या जर्राही ('सर्जरी') में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। ज्यादातर आँख और पेट के 'आपरेशन' से लोगों को बहुत लाभ पहुँचा है। हाथ पाँव आदि की हड्डी टूटने की दशा में भी पश्चिमी चिकित्सा पद्धति बड़ी लाभदायक रहा है। डाक्टर वेरोनभ ने यह प्रयोग किया है कि एक विशेष प्रकार के बन्दर की गिलटी या ग्रन्थी आदमी के शरीर में लगा देने से आदमी की ताक़त और उम्र बहुत बढ़ जाती है। इसका प्रयोग भारतवर्ष में भी हुआ है। दवाइयों के इञ्जेक्शनों (पिचकारी) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। बहुत सी बीमारियों में पैसे वाले आदमी कोई खाने या पीने की दवाई न लेकर अकसर इञ्जेक्शन लगवाना ही अधिक पसन्द करते हैं।

'एक़्स-रे' एक ऐसा यन्त्र है, जिससे किसी वस्तु के भीतर की चीज़ साफ दिखायी देने लगती है। किसी प्राणी की कोई हड्डी टूटी हुई है या नहीं, किसी के हृदय या फेफड़े की दशा कैसी है, यदि उसमें

भोजन आदि के साथ सुई या कांटे जैसी चीज़ पहुँच गयी है तो उसे निकालने के लिए किस ख़ास जगह 'आपरेशन' करना ठीक होगा, ऐसी बातों को जानने के लिए यह यन्त्र बहुत उपयोगी है। भारतवर्ष के ख़ास ख़ास अस्पतालों में ही इसका उपयोग होता है। पाश्चात्य देशों में तो इसका व्यावसायिक उपयोग भी बड़े पैमाने पर किया जाता है, उदाहरणवत् किसी सीपी में मोती है या नहीं, किसी चित्र में जो रंग काम में लाये गये हैं, वे धातु से तैयार किये हुए हैं, अथवा बनस्पति से, किसी मशीन के भीतर का कोई हिस्सा दुरुस्त है, या नहीं, इन बातों को जानने के लिए 'एक्स-रे' काम में लाया जाता है।

युद्ध-काल के वैज्ञानिक आविष्कार—दूसरे महायुद्ध में, जो योरप में सन् १६३६ से १६४५ तक रहा, बहुत से आविष्कार हुए हैं। उनमें से बहुत से तो ऐसे हैं, जिनका विशेष उपयोग लड़ाई में ही होता है, और जो विनाश या हिंसा करनेवाले हैं। लेकिन कुछ आविष्कारों का उपयोग लोकहित के लिए भी हो सकेगा। मिसाल के तौर पर मच्छर, मक्खियों और दूसरे कीड़ों को मारने के लिए डी० डी० टी० आदि औषधियाँ तैयार की गयी हैं, इन दवाइयों के उपयोग से बहुत सी ऐसी जगहों में भी आदमी अच्छी तरह रह सकेंगे, जहाँ इस समय मलेरिया आदि बीमारियों का बहुत प्रकोप रहता है। 'पैनिसिलिन' आदि कुछ कीटाणुनाशक औषधियों का भी आविष्कार हुआ है, जो खून में ज़हर फैलने, निमोनिया, और तालू या जीभ की जलन की बीमारियों में बहुत गुणकारी हैं। कुछ विष ऐसे मालूम किये गये हैं, जिनसे कीड़े मकोड़े तथा जंगली जानवर नष्ट करके, खेती तथा जंगलों की उन्नति की जा सकेगी।

युद्ध के समय हवाई जहाजों की बहुत तरक्की हुई है, इससे

भविष्य में यात्रा और यातायात यानी माल-ढुलाई का काम बहुत जल्दी, कम खर्च से, और बड़ी आसानी से हो सकेगा। ऐसे तरीके निकाले गये हैं कि सिर्फ कुछ घण्टों के अन्दर ऐसी इमारत खड़ी कर दी जाय, जिसमें एक परिवार या कुटुम्ब की मामूली ज़रूरतें सब पूरी हो सकें; और इस तरह बहुत थोड़े समय में ही कस्बा या नगर बनाकर जंगल में मंगल कर दिया जाय। इन उदाहरणों से यह साफ ज़ाहिर है कि संसार के नव-निर्माण की योजनाओं को अमल में लाने में विज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा होगा। ये आविष्कार आगे-पीछे भारतवर्ष में अपना प्रभाव दिखाये बिना न रहेंगे।

कुछ भारतीय वैज्ञानिक—वर्तमान दशा में हमारे कार्यकर्ताओं को जैसा चाहिए, प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। तो भी पिछले वर्षों में कई भारतीय विद्वानों ने वैज्ञानिक खोज में अच्छा योग दिया है। उनमें से मुख्य ये हैं :—'नोबल' पुरस्कार पानेवाले डाक्टर सी. वी. रमन अपने प्रकाश और नकली हीरा सम्बन्धी आविष्कारों के लिए प्रसिद्ध हैं। डा० बोस की बनस्पति सम्बन्धी खोज ने पश्चिमी वैज्ञानिकों को चकित किया है। डाक्टर मेघनाथ साह ने 'तारे' के सम्बन्ध में बहुमूल्य खोज की है। श्री० के. सी. मेहता ने गेहूँ आदि की बीमारियों का विचार किया है। डा० प्रफुल्लचन्द्र राय, तथा नीलरत्न धर रसायन सम्बन्धी खोज के कारण दूर दूर तक मशहूर हैं।

डाक्टर बिसे ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से पश्चिमी संसार में 'भारतीय एडीसन' का नाम पा लिया है। आपकी टाइप ढालने की मशीनें छापेखाने के लिए बहुमूल्य देन हैं। आपकी 'आटोमोडीन' नाम की दवाई तेज़ कृमिनाशक होते हुए भी विष रहित है; यह छूत की बीमारियों, जिगर रक्त-दोष, मूत्र-दोष, दोषी बुख़ार, और पेट के दर्द में बहुत गुणकारी है। आपने कई प्रकार के बिजली के यन्त्र भी बनाये हैं; एक यन्त्र से, सीधे सूर्य से बिजली ली जा सकती है। आप सपरिवार अमरीका जाकर बस गये हैं। असल में अभी भारतवर्ष में ऐसे आदमियों के लिए क्षेत्र बहुत कम है।

वैज्ञानिक संस्थाएँ—भारतवर्ष के क्षेत्रफल और जनता को देखते हुए

यहां वैज्ञानिक संस्थाओं की संख्या तथा काम बहुत कम हैं। कुछ स्कूलों और कालिजों में विज्ञान के सिद्धान्तों की ही शिक्षा दी जाती है। दूसरी मुख्य वैज्ञानिक संस्थाएँ ये हैं—विज्ञान परिषद, प्रयाग; यह हिन्दी और उर्दू द्वारा जनता में विज्ञान-साहित्य का प्रचार कर रही है। 'इण्डियन साइंस कांग्रेस'; इसके वार्षिक अधिवेशन महत्वपूर्ण होते हैं। 'इण्डियन केमीकल सोसाइटी' यह रसायन सम्बन्धी अच्छा काम कर रही है। 'इण्डियन बोटेनिकल सोसाइटी'; इसका उद्देश्य पौधों के अध्ययन और अन्वेषण को प्रोत्साहन देना है। 'एग्रीकलचरल रिसर्च सोसाइटी'; यह पहले पूसा (बिहार) में थी, अब देहली में है, इसमें भारतीय कृषि सम्बंधी ऊंची शिक्षा का कार्य होता है। 'इण्डियन इन्स्टीच्यूट आफ़ साइंस' बङ्गलोर; इसमें विशेषतया रसायन सम्बंधी अन्वेषणों का प्रबन्ध है। 'इण्डियन ऐसोसियेशन फ़ार-कल्टीवेशन-आफ़-साइंस', कलकत्ता; इसमें भौतिक विज्ञान, रसायन और खनिज विज्ञान की विविध शाखाओं में अनुसंधान करने की अच्छी व्यवस्था है। 'बोस रिसर्च इंस्टीच्यूट', कलकत्ता; यह एक अनुसंधान-संस्था है। 'हारकोर्ट बटलर टेकनालाजिकल इस्टीच्यूट', कानपुर; इसमें तीन मुख्य विभाग साधारण औद्योगिक रसायन, तेल, और शक्कर के हैं। 'साउथ इण्डियन साइंस कांग्रेस', बङ्गलोर; इसका उद्देश्य भारत के वैज्ञानिकों को आपस में मिलने का अवसर देना और विज्ञान की उन्नति करना है। यह साफ़ ज़ाहिर है कि भारतवर्ष में व्यावहारिक शिक्षा देने का प्रबंध अच्छा या काफी नहीं है; इस लिए यहाँ औद्योगिक या कृषि सम्बंधी खोज बहुत कम होती है।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति और धार्मिक विश्वास—यहाँ लोगों में वैज्ञानिक मनोवृत्ति बहुत कम है, वे चिरकाल से जिन बातों को सुनते आ रहे हैं, उन्हें अपने विचार या तर्क की कसौटी पर कसे बिना ही मान लेते हैं। यही कारण है कि बहुत सी धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाएं इस समय अनावश्यक या हानिकारक होते हुए भी मानी जा रही हैं। मिसाल के तौर पर नदियों में हजारों मन फूल पत्तों के अलावा पैसों आदि के रूप में बहुत-सा धन फेंका जाना, प्रति दिन तीर्थ-स्थानों

में मनों दूध नदियों या तालाबों में चढ़ाया जाना, एक-एक स्थान पर हज़ारों रुपये के घी से हवन होना, देवी-देवताओं के नाम पर हज़ारों पशुओं की बलि चढ़ाया जाना, यात्रा वा दान-पुण्य करने, हजामत कराने, मकान बनाने, विवाह शादी करने आदि में दिन और मुहुर्त का बेहद विचार करना, आदि। आशा है, जैसे-जैसे वैज्ञानिक विचार-धारा का प्रचार बढ़ेगा, ऐसी बातों में सुधार किया जायगा।

विज्ञान और ईश्वर-विश्वास—विज्ञान आदमियों को हरेक विषय पर स्वतंत्र विचार करने की प्रेरणा करता है। ज्यादातर आदमी ईश्वर को जड़ चेतन सब वस्तुओं की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करने वाला मानते हैं, और ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि रूपों में उसकी पूजा करते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि सब पदार्थ भिन्न-भिन्न परिमाण के परमाणुओं से, विविध रासायनिक क्रियाओं से, बने हैं। वे चर सृष्टि का एक दूसरे के ऊपर की श्रेणियों में वर्गीकरण करते हैं, और खुलासा तौर पर समझाते हैं कि एक श्रेणी के प्राणियों से उसके ऊपर वाली श्रेणी के प्राणियों का विकास कैसे होता है; मिसाल के तौर पर बन्दर या बनमानुस धीरे-धीरे अनेक पीढ़ियों के बाद मनुष्य योनि में आता है। उनके विचार से, संसार की रचना जड़ परमाणुओं से प्राकृतिक नियमों के अनुसार होती है, उसके लिए ईश्वर आदि किसी आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है। इन बातों से बहुत से आदमियों को ईश्वर की सत्ता में ही नहीं, उसके अस्तित्व तक में शंका हो चली। परन्तु पीछे विज्ञान के उन्नत स्वरूप ने बतलाया कि सब सृष्टि जड़ परमाणुओं का नहीं, वास्तव में शक्ति का ही रूप है। इस प्रकार वैज्ञानिक की 'शक्ति' और धार्मिक विचार वालों के 'सर्व-शक्तिमान' परम पिता परमात्मा (ख़ुदा आदि) में कुछ समन्वय सा

होता हुआ मालूम होता है।

विज्ञान का दुरुपयोग; विलासिता और विध्वंस—विज्ञान ने आदमी को स्वास्थ्य, चिकित्सा और सुख के अच्छे उन्नत साधन दे दिये हैं, और दे रहा है। परन्तु कितने ही आदमी यन्त्रों के आश्रित रहकर आरामतलब बन जाते हैं, वे अपनी शारीरिक शक्तियों का ह्रास कर रहे हैं; थोड़ी-थोड़ी दूर जाने के लिए भी साइकिल और मोटर आदि का उपयोग करते हैं। छोटे-छोटे कामों में यन्त्रों का सहारा लेते हैं, बात-बात में औषधियों का प्रयोग करते हैं, और दुबले, कमज़ोर और रोगी बने रहते हैं। भारतवर्ष में, अभी वैज्ञानिक उन्नति विशेष न होने पर भी, ये दोष काफ़ी मात्रा में मिल रहे हैं।

आदमियों के अलावा राज्य भी विज्ञान का भयंकर दुरुपयोग कर रहे हैं। नये-नये, घातक अस्त्र, यन्त्र या अन्य पदार्थ बनाये जा रहे हैं। अब युद्धों में तीर तलवार और बन्दूक़ के प्रयोग तो पुराने जमाने की बात हो गयी; तोप, बम, और मशीनगनों से भी आगे क़दम बढ़ाया जा चुका है। हवाई जहाज़ों, जहरीली गैसों का ही नहीं, हवाई गोले (राकेट बम) का समय आ पहुँचा है। इतनी 'उन्नति' तो पहले ही हो गयी थी कि तोप से पूरा नगर नष्ट कर दिया जाय। आधुनिक 'राकेट बम' सैकड़ों मील की ऊंचाई तक उड़ कर हजारों मील दूर के नगरों को नष्ट कर सकता है।

पराधीन देशों का उद्धार कैसे हो ?—हमारे देखते-देखते लाखों आदमियों और अरबों रुपये की सम्पत्ति नष्ट करनेवाले दो महायुद्ध हो गये। और, जापान चीन पर अत्याचार कर रहा है। स्वयं भारतवर्ष आज दिन पराधीन है तो इसी लिए कि ब्रिटेन के पास विज्ञान के साधनों वाली सैनिक शक्ति है, नहीं तो वीरता

में भारत क्या कुछ कम है। आह! विज्ञान द्वारा आज दिन कितने देशों की स्वाधीनता छीन ली गयी है। यदि पराधीन जाति अपना विज्ञान-बल बढ़ाती है तो शासक और आगे बढ़ जाते हैं। फिर, दलित और पीड़ित देशों का उद्धार हो तो कैसे हो! हिन्सा को परास्त कैसे किया जाय? सत्याग्रह और अहिन्सा द्वारा। इसके विषय में, इस पुस्तक के पहले अध्याय में लिखा जा चुका है। महात्मा गांधी इसका प्रयोग भारतवर्ष में कर रहे हैं, और संसार भर के पराधीन देश उत्सुकता से इस प्रयोग के परिणाम की बाट जोह रहे हैं। मानव जाति ने विज्ञान का एक रक्षक के रूप में स्वागत किया था। उसे आशा थी कि यह उसके कष्टों को घटायेगा, और उसे सुख शान्ति प्रदान करेगा। विज्ञान ने यह कार्य किया और कुछ अंश में अब भी कर रहा है। परन्तु कहावत है कि बुरे हाथो में पड़ कर अच्छी चीज़ भी बुरी हो जाती है। शैतानी दिमाग़ ने विज्ञान-रूपी रक्षक को भक्षक बना डाला है। उसकी रक्षा होनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—विज्ञान से होने वाली बुराइयों की रोक-थाम तभी होगी, जब हम यह अनुभव करने लगेंगे कि मनुष्य समाज एक एक बड़े परिवार की तरह है; जाति, रंग, सम्प्रदाय आदि का भेद-भाव रखना हमारी भूल है। दूसरों का हित हमारा हित हैं; और दूसरों की हानि हमारी भी हानि ही है। विज्ञान ने समय और दूरी की बाधा बहुत कुछ हटा दी है और संसार की एकता में बड़ी मदद पहुँचायी है। ज़रूरत है कि हमारे हृदय या दिलों में भी एकता हो। आदमियों में भाईचारे की भावना बढ़ाने पर ही विज्ञान हमारी उन्नति में सहायक होगा, और संसार के दूसरे देशों के साथ भारतवर्ष की भी वैज्ञानिक जागृति सफल होगी।

नवाँ अध्याय

राजनीति

'स्वतंत्रता की लड़ाई आरम्भ हो चुकी है, अब वह उस समय तक बन्द नहीं हो सकती, जब तक कि आज़ादी हासिल न हो जाय; राष्ट्र एक बार जग-कर फिर सो नहीं सकता।'
—*वल्लभभाई पटेल*

इस युग में राजनैतिक जागृति का विशेष स्थान है; इसके बिना देश की सामाजिक या आर्थिक समस्याएँ हल नहीं होतीं। राजनैतिक जागृति का मतलब कुछ लोगों का शासन-पद, नौकरियाँ, या थोड़ी-बहुत राजनैतिक सुविधाएँ पाने का आन्दोलन नहीं है। अगर कुछ आदमी अपने राजनैतिक कष्टों को दूर कराने के लिए शासकों की मिन्नत, खुशामद या हाँ-हजूरी करते हैं, तो इसे असली राजनैतिक जागृति का शुरू होना नहीं माना जा सकता। राजनैतिक जागृति का अर्थ यह है कि जनता में अपने राजनैतिक अधिकार पाने की धुन हो, वह संगठित होकर यह मांग करे कि सब बालिग स्त्री-पुरुषों को मताधिकार हो, उनकी चुनी हुई सभा ही देश के लिए सब कानून बनाये, उसे कर लगाने, राज्य की आमदनी खर्च करने और देश की रक्षा करने तथा दूसरे देशों से संधि करने का पूरा अधिकार हो। अपनी इस मांग के पूरा होने तक जनता बराबर आन्दोलन जारी रखे, और जरूरत होने पर बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिए तैयार रहे।

इस विचार से उन्नीसवीं सदी के पहले हिस्से के प्रयत्न असली जागृति के अंग नहीं थे। सन् १८५७ ई० का हमारा सुप्रसिद्ध स्वतंत्रता-युद्ध साधारण जनता के संगठित या व्यापक सहयोग से रहित होने के कारण, उससे भी इस देश की समुचित राजनैतिक जागृति का परिचय नहीं मिलता। उसके बाद भी तीस वर्ष तक कुछ मुट्ठी भर नेताओं के प्रयत्न से, शासकों की थोड़ी-बहुत उदारता और सहानुभूति से, जो बड़ी-बड़ी शाही प्रतिज्ञाएँ और छोटे-मोटे शासन-सुधार हुए, वे भी देश की राजनैतिक जागृति में विशेष महत्व नहीं रखते।

कांग्रेस; प्रारम्भिक काल—उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यहाँ राजनैतिक आन्दोलन वैध और संगठित रूप से करने का विचार होने लगा। कुछ सभा समितियों के बाद सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्र-सभा अर्थात् कांग्रेस का जन्म हुआ। इसकी स्थापना में योग देने वाली शक्तियों के उद्देश्य अलग-अलग थे। उदाहरण के लिए भारतीय परिस्थिति के अच्छे अनुभवी ह्यूम साहब ने, जो कांग्रेस की स्थापना करनेवालों में से हैं, इस लिए इसमें सहयोग किया था कि देश-प्रेमी और शिक्षित भारतवासियों का असन्तोष उग्र रूप धारण न करे। उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड डफ़रिन तथा कुछ अन्य अधिकारियों का, सहानुभूति दिखाने का उद्देश्य यह था कि सरकार प्रजा के भावों को तथा उसके बलाबल को जान सके, और परिस्थिति के अनुसार अपनी गति-विधि निश्चित कर सके। कुछ आदमी धार्मिक और सामाजिक सुधारों की आड़ में रह कर ही इसमें सम्मिलित होना चाहते थे, कांग्रेस को राजनैतिक संस्था बनाने के पक्ष में न थे; और, पीछे जब यह संस्था राजनैतिक हो ही गयी, तो

उनका इससे अलग हो जाना स्वाभाविक था। जो हो, कांग्रेस के अधिवेशन हर वर्ष होने लगे। शुरू में, इसकी नीति भारत-सरकार या ब्रिटिश सरकार को विविध सुधारों के लिए प्रार्थनापत्र या 'डेप्यूटेशन' भेजने की रही। तथापि बहुत-कुछ इसके आन्दोलन से सन् १८९२ ई० में म्युनिसपेलटियों, विश्वविद्यालयों आदि संस्थाओं को, तथा जागीरदार आदि विशेष समूहों को व्यवस्थापक के सभाओं लिए मेम्बर भेजने का कुछ अधिकार दिया गया। लेकिन न तो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए प्रतिनिधि ही व्यवस्थापक परिषदों में पहुँचने पाये, और न उन्हें विशेष अधिकार ही मिला।

हिंसात्मक घटनाएँ—महारानी विक्टोरिया की, सन् १८५८ ई० की घोषणा को असम्भव सनद और राजनैतिक छल बताने वाले, तथा अपनी मनमानी कार्रवाई करनेवाले कर्मचारी बने ही रहे। १९०५ में लार्ड कर्ज़न ने भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध बंगाल के दो टुकड़े करके भारतीय राजनैतिक जागृति के इतिहास में अपना नाम मोटे अक्षरों में लिख लिया। सभाबन्दी, और प्रेस के नियंत्रण आदि दमन के विविध उपाय में लाये गये। देश में अनेक भावुक हृदय अभी तक जैसे-तैसे अपने भावों को रोके हुए बैठे थे। अब उनसे न रहा गया। उन्हें यह दुखदायी अनुभव हुआ कि सरकार केवल ज़बानी जमाख़र्च करती है, अंगरेज़ी शासन के इतने समय का इतिहास जनता को ऐसी घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं के झमेले में डालते रहने की कहानी है, जिन्हें पूरा करने का, उसका असल में विचार नहीं होता। निदान, इन जोशीले देशभक्तों ने जहां तहां, अपनी जान पर खेलते हुए हिन्सा का रास्ता पकड़ा। गुप्त समितियां बनने लगीं। बम-कांड हुए। परन्तु हिंसात्मक घटनाओं को यहां देश-व्यापी

संगठित रूप न मिला। सार्वजनिक नेताओं ने हमेशा इनका विरोध किया। कांग्रेस इन्हें नियंत्रित करने का भरसक यत्न करती रही है, और उसे इसमें पूरी सफलता न मिलने का एक मुख्य कारण यही है कि शासकों ने जनता के राजनैतिक तथा आर्थिक असन्तोष को दूर नहीं किया; और, अगर कोई अच्छा काम किया भी तो इतनी देरी से और ऐसे ढंग से किया कि उसमें कुछ आनन्द न रहा।

मार्ले-मिंटो-सुधार—जनता का शासन-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन बढ़ता रहा। सन् १९०९ ई० में मार्ले-मिन्टो सुधार किये गये। भारत-मंत्री की इंगलैंड की सभा अर्थात् इण्डिया कौंसिल में दो भारतीयों के रहने का नियम किया गया, परन्तु उनका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा न होकर शासकों के अधीन रखा गया। व्यवस्थापक परिषदों में ग़ैर-सरकारी मेम्बरों की संख्या बढ़ायी गयी, लेकिन उनके चुनाव का अधिकार सरकारी अधिकारियों को ही रहा; और, राष्ट्रीयता नष्ट करने वाले जाति-गत या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भी स्थापना हुई। इन सुधारों से कुछ आदमियों को थोड़ा सन्तोष हुआ; शीघ्र ही उनमें से भी बहुतसों का भ्रम दूर हो गया। भारतवासी जाग तो रहे ही थे, कि १९१४-१८ के योरपीय महायुद्ध ने उन्हें और भी सचेत कर दिया। मित्र-राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के मुँह से छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता, और आत्म-निर्णय के सिद्धांत आदि की बातें सुनकर, तथा आयर्लैंड को स्वराज्य पाते देख कर, भारतवासी भी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार स्वराज्य पाने का निश्चय करने लगे।

शासन में सम्प्रदायिकता—अंगरेजों ने अपना शासन दृढ़ करने के लिए भारतवासियों में खासकर हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव बढ़ाया है। सन् १८५७ में उन्हें हिन्दू-मुसलमानों की एकता मालूम

हुई, तब से उन्होंने इस ओर और भी ज्यादा ध्यान दिया। सन् १८५९ में बम्बई के गवर्नर लार्ड एलफ़िंस्टन ने एक सरकारी पत्र में लिखा था कि "रोम के शासकों का सिद्धान्त था—फूट फैलाओ और शासन करो, और यही सिद्धान्त हमारा भी होना चाहिए।" कांग्रेस की शक्ति बढ़ना अंगरेजों को अच्छा नहीं लग रहा था। वे कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कहते हुए मुसलमानों को उससे अलग रखने की कोशिश करते रहे। सन् १९०५ में बंगाल के दो टुकड़े करने का उद्देश्य यह भी था कि बंगाल के नये प्रान्त में मुसलमानों का हिन्दुओं से मेल कम रहे, और पूर्वी बंगाल और आसाम में मुसलमानों का बहुमत हो। सन् १९०६ में सरकारी अधिकारियों की प्रेरणा से, मुसलमानों का एक डेप्युटेशन सर आगाख़ाँ के नेतृत्व में, गवर्नरजनरल लार्ड मिन्टो से मिला; और, उनके सामने मुसलमानों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में पृथक् निर्वाचन और सरकारी पदों के संरक्षण की माँग रखी। मार्ले-मिन्टो-सुधारों में मुसलमानों के लिए अलग चुनाव का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। इस तरह शासन-कार्य में साम्प्रदायिकता का रोग घुसाया गया, जिसने धीरे धीरे बढ़ कर बहुत भयङ्कर रूप धारण कर लिया। इस समय बहुत सी संस्थाएँ साम्प्रदायिक भेद-भाव बढ़ा रही हैं, उनमें मुसलिम लीग मुख्य है।

मुसलिम लीग—अधिकारियों की मेहरबानी या रियायतों से लाभ उठाने के लिए सन् १९०६ में मुसलमानों ने मुसलिम लीग नाम की एक अलग संस्था बनायी। उसने बंगाल के दो टुकड़े किये जाने की सराहना की। सन् १९०९ के शासन-सुधारों में सरकार द्वारा मुसलमानों के लिए अलग चुनाव का सिद्धान्त मान लिये जाने पर लीग ने साम्प्रदायिकता का प्रचार खूब खुलकर

किया। कांग्रेस ने लीग से समझौता करना ज़रूरी समझा, जिससे ब्रिटिश सरकार के सामने देश की सम्मिलित माँग रखी जा सके। सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस और लीग दोनों से मंजूर होने पर शासन-सुधार की जो योजना बनी उसे कांग्रेस लीग योजना कहते हैं। इसके अनुसार कांग्रेस ने साम्प्रदायिक निर्वाचन भी स्वीकार कर लिया।

सन् १९१६ में मुसलमानों ने पृथक् निर्वाचन का अधिकार पा लिया। सन् १९२६ में उन्होंने अपने लिए केन्द्रीय सभा में ३३ फी सदी सीट प्राप्त कीं। सन् १९३८ से मुसलिम लीग भारतवर्ष के मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि और संगठित संस्था कही जाने लगी। सन् १९३९ में भारत में एकता स्थापित करने के लिए केन्द्रीय सभा में मुसलमानों के लिए ५० फी सदी सीटों की माँग हुई। सन् १९४० से स्वतंत्र मुसलिम राज्य की स्थापना की बात कही जाने लगी, और भारत में मुसलिम राष्ट्र और हिन्दू राष्ट्र अलग-अलग होने का प्रचार किया जाने लगा। १९४४ से यह दावा होने लगा कि मुसलिम लीग ही भारतवर्ष की स्वतंत्रता के सवाल को हल कर सकती है।

पार्लिमेंट की घोषणा— कांग्रेस-लीग योजना के अलावा देश में और भी कई एक सुधार-योजनाएँ तैयार हुईं; और, स्वराज्य की माँग हुई। अन्त में भारत-मंत्री ने २० अगस्त १९१७ ई० को पार्लिमेंट में इस आशय की घोषणा की :—"ब्रिटिश सरकार की नीति शासन के प्रत्येक भाग में अधिकाधिक भारतीयों को स्थान देने तथा क्रमशः स्वराज्य-संस्थाएँ बढ़ाने की है, जिससे भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का अङ्ग रहता हुआ धीरे धीरे उत्तरदायी शासन प्राप्त कर सके। ब्रिटिश सरकार तथा भारत-सरकार पर ही भारतीय जनता के कल्याण और उन्नति का उत्तरदायित्व है, इसलिए वे ही प्रत्येक उन्नति-क्रम का निश्चय करेंगी।" इस नीति में, अधिकारियों की, सुधार-कार्य में फूँक-फूँक कर

कदम बढ़ाने की भावना स्पष्ट थी।

रालेट एक्ट और सत्याग्रह—इस अवसर पर सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों के घोर विरोध की कुछ परवाह न कर, एक दमनकारी क़ानून बना डाला, जो पीछे जनता में रालेट एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे नेताओं और अधिकारियों में तीव्र मतभेद हो गया। देश भर में इस क़ानून के विरुद्ध आँदोलन जारी हुआ। महात्मा गाँधी ने जनता को सत्याग्रह का रास्ता दिखाकर इसे व्यापक रूप प्रदान किया। तारीख़ ५ अप्रेल १६१६ ई० को रविवार के दिन घर-घर व्रत रखना, सब बाजार का काम बन्द रहना, हड़ताल होना, नंगे पाँव और नंगे सिर असंख्य जनता का शहर शहर में, और अनेक क़स्बों व गाँवों तक में, शोक-सूचक जलूस निकलना और रालेट एक्ट के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर भाषण होना—इन बातों से छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सब में साहस, स्वावलम्बन और त्याग की भावना बढ़ने लगी। हिन्दू मुसलमानों में भाईचारा हो चला। यह आन्दोलन शान्तिमय था, तो भी अधिकारी इसे सहन न कर सके। उन्होंने इसे दबाने में खूब शक्ति लगायी। कई जगह निहत्थी जनता के लिए पुलिस के सोटे अथवा बन्दूक भी काफ़ी न समझी जाकर मशीनगनों तक का व्यवहार किया गया। योरपीय महायुद्ध में रंगरूटों की खूब सहायता देनेवाले, तथा अच्छे-अच्छे इनाम या पुरस्कारों की आशा रखनेवाले पंजाब पर तो और भी बेढब बीती; उसे मार्शल ला (फौजी क़ानून), ओडायरशाही और डायरशाही के भयङ्कर दृश्य देखने पड़े। वहाँ कोड़े मारने, पेट के बल चलाने, और गोलियों की वर्षा करने के ही नहीं, हवाई जहाजों की बमबाज़ी के ऐसे रोमाञ्चकारी अनुभव हुए, जो स्वयं कितने ही ब्रिटिश नेताओं के मत से सर्वथा अ-ब्रिटिश हैं, और

ब्रिटिश शासन के इतिहास में कलङ्क के टीके हैं।

मांट-फोर्ड-सुधार—सन १६१६ के शासन-सुधारों को भारत-मंत्री मांटेग्यू और गवर्नरजनरल चेम्सफोर्ड के नाम पर, संक्षेप में मांट-फोर्ड-सुधार कहते हैं। उनसे उत्तरदायी शासनपद्धति केवल नौ प्रान्तों में, वह भी थोड़े से विषयों में आरम्भ की गयी। केन्द्रीय शासन में उसका सूत्रपात नहीं किया गया; भारत-सरकार ब्रिटिश पार्लिमेंट के ही प्रति उत्तरदायी रही, भारतीय जनता के प्रति नहीं हुई। भारतीय व्यवस्थापक मंडल के मेम्बरों की संख्या बढ़ायी गयी और उसकी दो सभाओं की गयीं—राजपरिषद् और भारतीय व्यवस्थापक सभा। प्रांतीय व्यवस्थापक परिषदों के लिए सदस्यों की संख्या जनसंख्या के अनुसार निश्चय की गयी। इन परिषदों में ७० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने लगे। मताधिकार ब्रिटिश भारत की चौबीस करोड़ जनता में से केवल पिछत्तर लाख को अर्थात् तीन फ़ी सदी को दिया गया। कांग्रेस-लीग योजना की चर्चा पहले की गयी है। उसकी दूसरी बातों की उपेक्षा करके, सरकार ने उसकी सबसे कमजोर कड़ी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपना लिया, और उसे इन सुधारों में शामिल करके व्यवस्थापक सभाओं में मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व तथा पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया। अस्तु, सन् १६१६ ई० की कांग्रेस ने निश्चय किया कि उसकी राय में शासन-सुधार का कानून अधूरा, असन्तोषप्रद और निराशाजनक है, वह चाहती है कि पार्लिमेन्ट भारत में शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित करने का प्रबन्ध करे, कांग्रेस किसी तरह इन सुधारों से पूर्ण उत्तरदायी शासन प्राप्त करने की कोशिश करेगी।

इन सुधारों के बाद—पञ्जाब हत्याकांड के सम्बन्ध में सरकार ने कोई सन्तोषजनक कार्रवाई नहीं की। उलटा, कुछ अफसरों को इनाम तक दिया गया। खिलाफत के मामले में भी यहाँ बड़ा असन्तोष रहा। रूम (टर्की) का सुलतान भारतवर्ष के भी मुसलमानों का खलीफा या प्रधान धर्म-गुरू था और, इंगलैंड आदि मित्र-राष्ट्रों ने योरपीय महायुद्ध में भारतीय मुसलमानों की मदद पाने पर भी, जीत के बाद, अपने स्वार्थ के लिए रूम के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इस पर अनेक हिन्दू और मुसलमानों ने म० गांधी के आदेश के अनुसार असहयोग किया। अर्थात् सरकारी स्कूल, अदालतों, नौकरियों और कौंसिलों का वहिष्कार किया। सन् १६२० में कांग्रेस के उद्देश्य में से, भारतवर्ष के ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही रहने की बात निकाल दी गयी। इस वर्ष नये सुधारों के अनुसार व्यवस्थापक सभाओं का पहला निर्वाचन हुआ। बहुत से योग्य आदमियों ने असहयोगी होने के कारण, उसमें भाग न लिया।

सन् १६२२ में महात्मा गांधी के कैद किये जाने पर, कुछ असहयोगियों ने स्वराज्य-दल बना कर, अन्य वहिष्कारों में श्रद्धा रखते हुए भी, कौंसिलों में जाना और थोथे सुधारों को नष्ट करना उचित समझा। इन्होंने व्यवस्थापक सभाओं के १६२३ के चुनावों में भाग लिया। स्वराज्य-दल के कारण सन् १६२३ से १६२६ तक बंगाल और मध्यप्रान्त में मंत्रियों का वेतन नामंजूर हुआ, या नाममात्र के लिए ही मंजूर हुआ, और सरकार की बारबार हार हुई। तो भी मंत्री अपने पद पर बने रहे। इससे शासन का उत्तरदायी न होना स्पष्ट हो गया।

साइमन कमीशन—सन् १६१६ ई० के विधान में ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि दस वर्ष में एक कमीशन इस बात की जांच करे कि उस समय जो उत्तरदायी शासन प्रचलित हो, उसे कहां तक बढ़ाना, बदलना या घटाना ठीक है। यह कमीशन सन् १६२७ ई० में नियुक्त हुआ, और अपने सभापति के नाम से साइमन कमीशन कहलाया। इसके सातों सदस्य अंगरेज थे, वे भी अनुदार विचार वाले। अतः यहाँ के विविध राजनैतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया। कमीशन की रिपोर्ट सन् १६२६ में प्रकाशित हुई। पीछे सन् १६३०-३२ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों, और अंगरेजों की लन्दन में तीन बार गोलमेज-सभाएँ हुईं। इनमें से सिर्फ दूसरी में ही कांग्रेस ने भाग लिया। उसकी तरफ से महात्मा गांधी वहाँ गये थे। इन्होंने जान लिया कि सरकार का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है, और वह भारतीय जनता को कुछ असली अधिकार—स्वराज्य का सार—देने को तैयार नहीं है। ये निराश होकर लौट आये।

औपनिवेशिक स्वराज्य योजना, और स्वतन्त्रता—इस बीच में यहाँ के विविध दलों के नेताओं ने भारतवर्ष की कम-से-कम मांग भी प्रकाशित कर दी। सन् १६२८ में पं० मोतीलालजी नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई, इसकी रिपोर्ट 'नेहरू-कमेटी-रिपोर्ट' कहलाती है। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—

ब्रिटिश साम्राज्य में भारतवर्ष का वही दर्जा होगा जो केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिण अफ्रीका और आयरिश फ्री स्टेट नाम के स्वराज्य-प्राप्त राष्ट्रों का है। भारतवर्ष में एक ऐसी पार्लिमेंट होगी, जो शान्ति तथा शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में क़ानून बना

सकेगी। इसके साथ ही यहाँ एक ऐसा शासक-मण्डल होगा जो भारतीय पार्लिमेंट के सामने जिम्मेवर ठहराया जा सकेगा। भारत का राष्ट्र 'भारतवर्ष का कामनवेल्थ' कहलायगा। भारतवर्ष को अपने सैनिक प्रबन्ध, सर्वोच्च न्याय, कर-निर्धारण और नियम-निर्माण आदि का पूर्ण अधिकार होगा। इक्कीस वर्ष या अधिक उम्र के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मताधिकार रहेगा। सारे देश की सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी होगी, जो उर्दू और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकेगी। अंगरेजी का उपयोग किया जा सकेगा। प्रान्तीय सरकार की वही भाषा होगी, जो उस प्रान्त की प्रधान भाषा हो, पर हिन्दुस्तानी और अङ्गरेज़ी का उपयोग हो सकेगा।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस योजना पर ध्यान न दिया। काफी इन्तजार करने के बाद, लाहौर में कांग्रेस ने ३१ दिसम्बर १९२९ को स्वाधीनता-प्रस्ताव पास किया। तब से हर वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाता है। सन् १९३० में नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह शुरू किया गया। आन्दोलन धीरे धीरे बढ़ता गया। सरकार ने भी नये-नये आर्डिनेन्स या फरमान निकालकर खूब ज़ोर का दमन किया। बहुत से माई के लालों ने लाठी-वर्षा या जेल की तकलीफें सहीं, और कितने ही तो गोलियों के शिकार होकर मातृभूमि के काम आये।

नागरिकों के मूल अधिकार आदि—मार्च सन् १९३१ ई० में कांग्रेस और सरकार में क्षणिक संधि होने पर, कांग्रेस का अधिवेशन करांची में खूब धूमधाम से हुआ। कांग्रेस ने राजनैतिक के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता को भी आवश्यक बताते हुए, स्वराज्य-सरकार लिखित बातों के होने की सूचना दी :—

१—नागरिकों के मूल अधिकार :—(क) सभा समितियां करने की स्वतन्त्रता, (ख) भाषण और समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता, (ग) सार्वजनिक शान्ति और ऐसे धर्म को मानने और उसके अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता, जो सदाचार के विरुद्ध न हो, (घ) अल्पसंख्यक समुदायों की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा, (च) स्त्री-पुरुष का भेद न मानते हुए सब नागरिकों के अधिकारों और उत्तरदायित्व की समानता, (छ) धर्म या जाति के कारण किसी व्यक्ति के लिए कोई सरकारी नौकरी, पद, अधिकार या सम्मान पाने अथवा कोई रोज़गार या पेशा करने में रुकावट न होना, (ज) सार्वजनिक सड़कों, कुओं, तथा जनता के लिए बनाये हुए अन्य स्थानों के उपयोग का सब नागरिकों को समान अधिकार, (झ) निर्धारित नियमों के अनुसार, हथियार काम में लाने का अधिकार, (ट) क़ानून में बतायी हुई अवस्था के सिवाय, किसी की स्वतन्त्रता का हरण न किया जाना, किसी के घर जायदाद में प्रवेश न करना, और न उसका छीना या ज़ब्त किया जाना, (ठ) धार्मिक विषयों में राज्य की तटस्थता, (ड) हर एक बालिग़ आदमी को मताधिकार, (ढ) अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा।

२—मज़दूरों की व्यवस्था :—(क) कल कारख़ानों में काम करनेवालों के निर्वाह के लिए यथेष्ट वेतन, (ख) काम करने के परिमित घण्टे, (ग) काम करने का स्वास्थ्यप्रद प्रबन्ध, (घ) बुढ़ापे, बीमारी या बेकारी के आर्थिक परिणामों से रक्षा, (च) दासता या उससे मिलती-जुलती दशा से श्रमजीवियों का छुटकारा, (छ) स्त्री-मज़दूरों की रक्षा, विशेषतया प्रसूति के समय छुट्टी का यथेष्ट प्रबन्ध, (ज) स्कूलों में पढ़ने लायक उम्र के बच्चों के, खानों में भरती होने का निषेध, (झ) अपने हितों की रक्षा के लिए मज़दूरों का संघ बनाने का अधिकार, और झगड़ों को पंचायतों द्वारा निपटाने की समुचित व्यवस्था।

३—राजकीय कर और व्यय :—(क) जिन खेतों से लाभ न होता हो, उनके किसानों से दिये जाने वाले लगान और किराये में काफ़ी छूट, और आवश्यक समय तक लगान की माफ़ी, (ख) कृषि से होने वाली निर्धारित परिमाण से ऊपर की आय पर क्रमशः बढ़ता हुआ कर, (ग) विरासत की जायदाद पर क्रमशः बढ़ता हुआ कर, (घ) सैनिक व्यय में, वर्तमान परिमाण

के कम-से-कम आधे की कमी, (च) मुल्की विभागों के वेतन और व्यय में बहुत कमी; विशेष दशा में नियुक्त विशेषज्ञों आदि छोड़कर किसी सरकारी नौकर को प्राय: पाँच सो रुपये से अधिक मासिक वेतन न दिया जाना, (च) देशी नमक पर कर न होना।

४—आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था:—(क) विदेशी कपड़े और सूत को देश में न आने देकर स्वदेशी कपड़े को प्रोत्साहन, (ख) शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं की रुकावट, (ग) मुद्रा और व्यापार नीति का इस प्रकार नियन्त्रण कि स्वदेशी उद्योग-धन्धों को सहायता मिले और जनता का हित हो, (घ) मुख्य उद्योगों और खनिज साधनों पर राज्य का नियन्त्रण, (च) सूदखोरी का नियन्त्रण।

नागरिक अधिकारों के इस व्योरे का उद्देश्य यह है कि भारतवर्ष में रहनेवाले जुदा-जुदा जाति, धर्म या श्रेणी के आदमियों को इस वि[illegible] की जानकारी दी जाय, और विदेशियों को भी हमारे विचारों का ज्ञान हो जाय।

साम्प्रदायिक निर्णय; पूना का समझौता—गोलमेज-सभाओं की बात पहले कही गयी है। दूसरी गोलमेज सभा में शासन सम्बन्धी विविध विपयों पर विचार करने के लिए कुछ कमेटियाँ बनायी गयी थीं। उन कमेटियों में से अल्पसंख्यक कमेटी किसी ऐसे निर्णय पर न पहुँच सकी, जो सब को स्वीकार हो। अन्त में कुछ 'प्रतिनिधियों' के कहने पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने सब पक्षों के एक मत होने तक के लिए, अपना निर्णय दिया; उसके अनुसार भारतीय मतदाता कई अलग-अलग श्रेणियों में बांट दिये गये। इससे सांप्रदायिक मुसलमानों को छोड़, और सब असंतुष्ट रहे। इस निर्णय ने 'दलित' जातियों को हिन्दुओं से अलग निर्वाचनाधिकार दे दिया। म० गांधी ज़ेल में थे, हिन्दुओं में फूट डालने का यह प्रयत्न उनसे न देखा जा

सका। उन्होंने १८ अगस्त १९३२ को घोषणा करदी कि इस निर्णय में सुधार न होगा, तब तक मैं आमरण उपवास करूँगा। महात्माजी के अनशन से देश भर में हलचल मच गयी। सरकार ने नेताओं को उनसे मिलने की अनुमति दे दी। निश्चय हुआ कि व्यवस्थापक सभाओं में, कुछ शर्तों के साथ दलितों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जायँ, और वे पृथक् निर्वाचन की बात छोड़ दें। पूना के इस समझौते को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया।

इसके बाद मुसलमानों में भी राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठीं, और उन्होंने भी महात्मा जी से (जेल में) मिलकर साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करना चाहा, पर सरकार ने ऐसा न होने दिया। लखनऊ और इलाहाबाद में कान्फ्रेन्स करके समझौते का प्रयत्न किया गया. उसमें कुछ स्वार्थी तथा कट्टर व्यक्तियों के कारण सफलता न मिली।

काँग्रेस, और असेम्बली का चुनाव—यहाँ की व्यवस्थापक सभाओं में कुछ तत्व न होने से काँग्रेस ने कई वर्ष उनसे असहयोग किया। पर सन् १९३४ ई० में इसने 'असेम्बली' के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया। इसका कारण यह भी था कि पिछली भारतीय व्यवस्थापक सभा दमनकारी तथा व्यापार-घातक क़ानून बनाने में सहायक हुई थी, और सरकार को यह कहने का अवसर मिला था कि भारतीय 'प्रतिनिधि' उसकी नीति का समर्थन करते हैं। काँग्रेस चाहती थी कि अब ऐसा न हो। पर यह बात तो गौण थी। काँग्रेस के चुनाव में भाग लेने के मुख्य दो कारण थे:—(१) शासन विधान के सरकारी-मसविदे (श्वेत पत्र) को अस्वीकार करना, और (२) विधान सभा (कान्स्टीच्यूएंट ऐसेम्बली) का आयोजन। समय

कम रह गया था, और भी कई कठिनाइयाँ थीं; कितने ही सज्जन काँग्रेस की, कौंसिलों में जाने की नीति का विरोध कर रहे थे। तो भी कांग्रेस को चुनाव में खूब सफलता मिली; असेम्बली में इसी का दल सब से बलवान रहा।

विधान-सभा—जब क्रान्ति या अन्य किसी कारण से देश का पुराना शासन-यंत्र बेकाम हो जाता है, तो जो व्यक्ति अस्थायी रूप से वहाँ शासन-सूत्र ग्रहण करते हैं, वे भावी शासन-व्यवस्था का निश्चय करने के लिए जनता के प्रतिनिधियों की सभा बुलाते हैं। वह सभा नये शासन-विधान का मसविदा तैयार करती है। पीछे, विधान के अनुसार नयी सरकार का सङ्गठन हो जाने पर, यह सभा सब शासन-सूत्र उसे सौंप देती है, और स्वयं भंग हो जाती है। यह सभा 'विधान सभा' कहलाती है। इसका काम केवल शासन-व्यवस्था का नया स्वरूप निश्चित करना और उस पर जनता की स्वीकृति प्राप्त करना है। यह सभा समस्त अधिकारियों से ऊपर होती है, कोई व्यवस्थापक सभा या प्रबंध-कारिणी इसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इस सभा का चुनाव व्यापक मताधिकार पर यथा-संभव इस प्रकार किया जाता है कि इसमें सब विचारों के आदमी आजाते हैं; इसके निश्चय जनता की सम्मलित इच्छा को सूचित करनेवाले होते हैं। किसी पार्टी या दल को, इसके निर्णय में आशंका करने का कारण नहीं होना।

देशी राज्यों की जागृति—इस अध्याय में अभी तक जिस जागृति का परिचय दिया गया है, वह ज्यादातर ब्रिटिश भारत सम्बन्धी है। भारतवर्ष का, क्षेत्रफल की दृष्टि से एक-तिहाई से अधिक, और जन-संख्या की दृष्टि से पांचवें हिस्से से ज्यादा भाग देशी राज्यों का है। यद्यपि नक़शे में उनका और ब्रिटिश भारत का रंग अलग-अलग है, वे पीले हैं, यह लाल, तथापि इन दोनों भागों का चोली-दामन का साथ है। इनका परस्पर में सामाजिक, आर्थिक

और राजनैतिक सम्बन्ध है। इन दोनों के आयात-निर्यात, रेल, फ़ौज, डाक, तार, टकसाल आदि एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। देशी राज्यों में होने वाले अन्याय और अत्याचार कुछ अंश में ब्रिटिश भारत से भी अधिक थे। उनके निवासियों पर, ब्रिटिश भारत में रहनेवाले अपने पड़ौसियों के शासन-सुधार और आज़ादी के आन्दोलन का असर पड़े बिना न रहा। सत्याग्रह और विदेशी वहिष्कार आदि में उन्होंने भरसक भाग लिया। धीरे-धीरे उनमें अधिकाधिक जागृति होती गयी। कई रियासतों में अत्याचारों को हटाने के विविध आन्दोलन हुए, परन्तु अच्छे संगठन वाली, एक अखिल भारतवर्षीय संस्था की आवश्यकता थी। अन्त में 'देशी राज्य लोक परिषद' की स्थापना हुई, जिसका प्रथम अधिवेशन सन् १९२७ ई० में हुआ। इसका उद्देश्य देशी नरेशों को सुधार करने के लिए प्रेरित करना, तथा समय-समय पर संसार के सामने प्रजा की माँग उपस्थित करना, है।

लोक परिषद की ओर से सन् १९२७ ई० की मद्रास-कांग्रेस में प्रतिनिधि-मण्डल गया, और उसके प्रयत्न से कांग्रेस ने देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की माँग स्वीकार की। नेहरू रिपोर्ट में इस बात का आश्वासन दिया गया कि भावी भारत-सरकार देशी राज्यों की जनता के अधिकारों की पूरी तौर से रक्षा करेगी। देशी राज्यों का ब्रिटिश सरकार से क्या सम्बन्ध रहे, तथा ब्रिटिश भारत से आर्थिक सम्बन्ध कैसा हो, इस विषय का विचार करने के लिए सरकार ने दिसम्बर १९२७ ई० में 'इण्डियन स्टेट्स कमेटी' नियुक्त की, जिसे उसके सभापति के नाम पर बटलर कमेटी कहते हैं। उसने देशी राज्यों में भारत-सरकार के हस्तक्षेप-अधिकार को और भी दृढ़ किये जाने की सलाह दी। यह बात राजाओं को पसन्द नहीं आयी। पर

जनता के विचार से भी कमेटी की रिपोर्ट बहुत असन्तोषजनक रही। लोक परिषद् ने अपना प्रतिनिधि-मण्डल इङ्गलैण्ड भेज कर उसका विरोध किया। परिषद् ने कई रियासतों में होनेवाले अत्याचारों की स्वतन्त्र रूप से जांच की, और पुस्तकों, समाचारपत्रों तथा भाषणों द्वारा अपना प्रचार-कार्य किया।

सन् १९३१ ई० में परिषद ने सर्वसाधारण के सामने देशी राज्यों की ये कम-से-कम माँग उपस्थित कीं :—१—देशी राज्यों के लोगों की संघ-राज्य की नागरिकता, और उनके मूल अधिकार नये शासन विधान में दर्ज हों। २—देशी राज्यों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए शासन-विधान में सङ्घ-राज्य के न्यायालय की व्यवस्था हो। ३—केन्द्रीय (भारतीय) व्यवस्थापक सभाओं में देशी राज्यों के लोगों को प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, और इसके लिए उन्हें भी ब्रिटिश भारत में प्रचलित निर्वाचन पद्धति और मताधिकार मिले। ४—भारतीय राज्यों के न्यायालयों का सम्बन्ध सङ्घ राज्य के सुप्रीम कोर्ट से हो।

देशी राज्य और कांग्रेस—काग्रेस का कार्य-क्षेत्र आरम्भ में ब्रिटिश भारत ही था। देशी राज्यों के निवासियों के, उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित कराने के उचित और शान्तिमय प्रयत्न से कांगेस पूरी सहानुभूति रखती रही और वह उसका समर्थन भी करती रही। परन्तु शायद कुछ व्यावहारिक कारणों से उसने उनके मामलों में विशेष हस्तक्षेप न करने की ही नीति रखी। पिछले वर्षों में उसने समय समय पर देशी राजाओं से आग्रह किया कि वे अपने राज्यों में प्रतिनिधि सस्थाओं के आधार पर उत्तरदायित्व-पूर्ण विधान चलावें, और तुरन्त ऐसी घोषणाएँ निकालें या ऐसे क़ानून पास करें, जिनमें सभा समिति बनाने, भाषण करने और लेख लिखने की स्वतन्त्रता, तथा जान-माल की रक्षा, और इसी तरह के दूसरे मूल नागरिक अधिकारों

के सुरक्षित रहने की बात हो।

कांग्रेस की यह नीति महात्मा गांधी के कहने से ग्रहण की गयी थी। धीरे धीरे देशी राज्यों की जनता अपने अधिकार पाने के लिए आगे बढ़ती गयी, पर कितने ही देशी नरेश इस जागृति को दबाने के लिए उस पर अत्याचार करने लगे। इस पर महात्मा जी ने सन् १९३८ ई० के अन्त में देशी नरेशों को चेतावनी देते हुए, 'हरिजन' में साफ़-साफ़ कह दिया कि 'या तो वे अपना अस्तित्व बिलकुल मिटा देने के लिए तैयार हो जायँ, या अपनी प्रजा को पूर्ण उत्तरदायी शासन के अधिकार दें. और स्वयं उसके संरक्षक होकर रहें, तथा अपने परिश्रम के लिए पुरस्कार लें।' क्या देशी नरेश इस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे ? कांग्रेस भारतवर्ष की स्वाधीनता की लड़ाई चला रही है; वह इस देश की एक-तिहाई जनता के प्रति उदासीन नहीं रह सकती।

सन् १९३५ का शासन-विधान—पार्लिमेंट ने सन् १९३५ ई० के भारतीय शासन-विधान की रचना की। इस विधान के अनुसार भारतवर्ष में केन्द्रीय सरकार का स्वरूप 'संघ शासन' रखा गया, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। सिद्धान्त से संघ-शासन भारतवर्ष के लिए बहुत उत्तम है, परन्तु विधान में उसका जो स्वरूप निर्धारित किया गया था; वह नितान्त असन्तोषप्रद रहा। संघ के एक भाग (ब्रिटिश भारत) का शासन कुछ-कुछ उत्तरदायी था, और, दूसरे भाग (देशी राज्यों) में स्वेच्छाचारी। विधान का यह अंश अमल में आने से पहले ही स्थगित हो गया, और, सिर्फ़ प्रान्तों सम्बन्धी हिस्सा ही अमल में आया।

इस विधान की विशेषता बतायी गयी थी—प्रान्तीय स्वराज्य

पर 'स्वराज्य' केवल गवर्नरों के प्रान्तों को है, चीफ़-कमिश्नरों के प्रान्तों को इससे वंचित रखा गया है। और, गवर्नरी प्रान्तों में भी स्वराज्य कैसा है ? गवर्नर प्राय: सर्वेसर्वा हैं, मंत्रिमण्डल के क़ानूनी अधिकार बहुत कम हैं, व्यवस्थापक मण्डलों का कार्यक्षेत्र तथा अधिकार भी बहुत सीमित हैं। छ: प्रान्तों में प्रतिक्रियावादी दूसरी सभाओं की स्थापना करदी गयी है। आर्थिक विषयों में व्यवस्थापक मण्डल प्राय: गवर्नर की कृपा पर छोड़ दिये गये हैं। व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव के लिए मताधिकार पहले से बढ़ा दिया गया है, परन्तु उसे साम्प्रदायिकता के रंग से रंग कर सब गुड़-गोबर कर दिया गया है।

कांग्रेस का पद-ग्रहण—इस विधान को रद्द करने के लिए कांग्रेस ने नयी व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव में भाग लिया। छ: प्रान्तों (बम्बई, मद्रास, संयुक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, और मध्य-प्रांत) में, कांग्रेस-दल का बहुमत रहा। इस लिए इन प्रान्तों के गवर्नरों ने कांग्रेस-दल के नेताओं को अपने-अपने प्रान्त में मंत्रिमंडल बनाने के लिए बुलाया। कांग्रेस ने मंत्री-पद ग्रहण करना उसी दशा में स्वीकार किया, जब गवर्नर-जनरल ने यह आश्वासन दे दिया कि आम तौर से शासन-कार्य मंत्रिमण्डल करेंगे, और गवर्नर उनकी सलाह मानेंगे, उसमें हस्तक्षेप न करेंगे। इस प्रकार कांग्रेस ने ऊपर बताये हुए छ: प्रान्तों में मंत्रिमण्डल बनाये। पीछे पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रांत और आसाम में भी कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल हो जाने से, गवर्नरों के ग्यारह प्रांतों में से आठ में कांग्रेस-शासन हो गया।

कांग्रेस के पद-ग्रहण करने से जनता के नागरिक अधिकार बढ़े, पुलिस आदि की मनमानी कार्रवाइयों में कमी हुई। लोगों के कष्ट

दूर हुए ग्राम-सुधार आदि का काम हुआ, और कई अच्छे अच्छे कानून बनाये गये। कांग्रेस की शक्ति और सदस्यों की संख्या बढ़ी; हाँ, कुछ आदमी अपने स्वार्थ या प्रसिद्धि के लिए भी सदस्य बने। जिन प्रान्तों में गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे, उनमें भी कुछ लोकोपयोगी कार्य किये गये।

कांग्रेस-सरकारों का इस्तीफा—कांग्रेस सरकारों ने विधान के अनुसार जहाँ तक हो सकता था, जनता की सेवा की। वह वैधानिक संकट को जैसे-तैसे टालती रही; पर आखिर, संकट आ ही पहुँचा। सन् १९३९ में योरप में (दूसरा) महायुद्ध छिड़ा। इंगलैंड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने पर यहाँ की प्रान्तीय सरकारों का मत लिए बिना ही भारतवर्ष को भी उससे लड़नेवाला घोषित कर दिया; उसने यहाँ की केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों को प्रान्तों में कई प्रकार के काम करने का अधिकार देकर प्रान्तीय मंत्रिमंडलों की शक्ति कम करदी। कांग्रेसी सरकारों को यह बहुत खटका। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से युद्ध का उद्देश्य पूछा, और यह माँग रखी कि युद्ध समाप्त होने पर भारतवासियों को अपनी विधान-सभा बना कर उसके द्वारा अपनी शासनपद्धति निश्चित करने का अधिकार रहे। ब्रिटिश सरकार का संतोषजनक जवाब न मिलने पर, कांग्रेसी सरकारों ने त्यागपत्र दे दिया। इस पर, उनके अधिकार गवर्नरों ने अपने हाथ में ले लिये।

मुसलिम लीग के तीस वर्ष—ब्रिटिश अधिकारियों की कूटनीति के बावजूद, उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यहाँ हिन्दू और मुसलमानों में आम तौर से भेदभाव बढ़ने नहीं पाया था। अन्त में मार्ले-मिंटो सुधार और मांट-फोर्ड सुधारों से पृथक् चुनाव और विशेष अधिकार की बात खड़ी करके कूट-नीतिज्ञ धीरे-धीरे इन दो जातियों में फूट डालने में सफल होने लगे। खिलाफत आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन का भाग बनाने से आपस में मेल बढ़ने की

आशा हुई। सन् १६२१-२२ में लीग और कांग्रेस ने साथ-साथ काम किया। यह समय हिन्दू मुसलिम एकता का रहा। सन् १६२८ में कांग्रेस और लीग दोनों ने साइमन कमीशन का बहिष्कार किया। सन् १६२७ जब सर मोहम्मद शफी आदि पृथक् निर्वाचन के पक्ष में थे तो श्री० जिन्ना और अली भाइयों ने कुछ शर्तों के साथ सम्मिलित चुनाव का पक्ष लिया था। लेकिन सन् १६२६ में लीग का अधिवेशन श्री० जिन्ना के सभापतित्व में हुआ, उसमें पृथक् चुनाव और लीग की १४ शर्तों की घोषणा की गयी। सन् १६३० में सर मोहम्मद इकबाल ने लीग के सभापति की हैसियत से दिये हुए भाषण में 'पाकिस्तान' की योजना रखी।

सन् १६३५ के आधार पर जो नये चुनाव हुए, उनमें बंगाल और पंजाब की व्यवस्थापक सभाओं में मुसलमानों का बहुमत हो गया। लेकिन बंगाल में मुसलिम लीग को सब मुसलिम सीटों की सिर्फ एक-चौथाई मिलीं; और, पंजाब में यूनियन पार्टी का ही बहुमत रहा; यहाँ के ८४ मुसलिम सदस्यों में से सिर्फ १ सदस्य मुसलिम लीग का चुना गया। हाँ, इन प्रांतों के प्रधान मंत्री अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिए पीछे लीग मे शामिल हो गये। सिंध में लीग का एक भी सदस्य नहीं चुना गया। यही हाल पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त का हुआ, जो सबसे अधिक मुसलिम प्रान्त है।* मुसलिम लीग की ऐसी हार देखकर श्री० जिन्ना ने कांग्रेस के साथ मिलकर संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने का विचार किया, इसे कांग्रेस ने स्वीकार न किया। अब लीग ने यह झूठा प्रचार करना शुरू किया कि कॉंग्रेसी सरकार वाले प्रान्तों में मुसलमानों पर बहुत ज्यादतियाँ हुई हैं। जब सन् १६३६ में कॉंग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दिये तो लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया।

लीग की राजनीति—सन् १६१३ में लीग के मुख्य उद्देश्य ये थे:—मुसलमानों में ब्रिटिश साम्राज्य की वफादारी के ख्यालों का प्रचार, मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा, तथा इंगलैंड की अधीनता में स्वराज्य प्राप्त करना। समय-समय पर इसमें परिवर्तन

---

* इस प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कायम हुआ।

हुआ। सन् १९३७ में लीग का लक्ष्य भारतवर्ष का पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना रहा; लीग प्रजातंत्री राज्य स्थापित करना चाहती थी, और पूर्ण स्वाधीन भारत के विधान में मुसलमानों तथा दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के लिए संरक्षण चाहती थी। उसने अपने आपको कांग्रेस के मुकाबले की संस्था बनाने की कोशिश की। इसलिए उसने समय-समय पर कांग्रेस का अनुकरण या सहयोग करना आवश्यक और उचित समझा। लेकिन उसमें कांग्रेस का सा त्याग और बलिदान का भाव न हुआ, और वह मुसलमानों के विशेष अधिकारों के लिए ब्रिटिश सरकार का आसरा तकती रही। ब्रिटिश सरकार भी उसकी आड़ में भारतवर्ष की फूट का राग अलापते हुए यहाँ की जनता को कुछ वास्तविक सत्ता देने से बचती रही। इस प्रकार मुसलिम लीग ने भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक स्तम्भ का काम दिया।

पाकिस्तान—सन १९३५ के विधान के अनुसार होनेवाले चुनावों में, और पीछे संयुक्त मंत्रिमंडलों के बनाने में, सफल न होने पर सन १९३९ से श्री० जिन्ना प्रजातन्त्र शासन का विरोध करने लग गये। वे यह मानने लग गये कि भारतवर्ष में दो राष्ट्र हैं--हिन्दू राष्ट्र और मुसलिम राष्ट्र, इनके लिए अलग अलग राज्य कायम किये जाने चाहिएँ। मुसलमानों के लिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान, पंजाब और सिंध में, तथा बंगाल और आसाम में मुसलिम राज्य हो; इसे 'पाकिस्तान' कहा जाय और शेष भारत में (मुसलिम राज्यों को छोड़कर) हिन्दू राज्य हो। सन् १९४० में लाहौर के अधिवेशन में लीग का मुख्य ध्येय पाकिस्तान ठहराया गया।*

---

*'पाकिस्तान' योजना की बुराइयाँ हम खुलासा तौर से 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' में दिखा चुके हैं।

क्रिप्स योजना और पाकिस्तान—सन १६४२ में, जब कि योरपीय महायुद्ध खूब जोर से चल रहा था, और इस बात की बड़ी आशंका थी कहीं जापान भारतवर्ष पर भी हमला न कर बैठे, ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष के शासन की एक योजना लेकर यहाँ आए। उसे साधारण बोलचाल में 'क्रिप्स योजना' कहते हैं। उसमें भारतवर्ष को युद्ध के बाद कुछ शर्तों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात कही गयी थी। पर यह साफ जाहिर था कि कम से कम युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को कोई खास अधिकार देना नहीं चाहती। कांग्रेस ने उस योजना को नामंजूर कर दिया।

मुसलिम लीग को यह संतोष रहा कि कुछ गौण रूप से ही सही, उस योजना में पाकिस्तान की सम्भावना मान ली गयी है। असल में, उसमें प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था; 'मुसलिम प्रांतों' का उसमें जिक्र नहीं किया था। फिर, श्री ०जिन्ना की माँग यह थी कि ब्रिटिश सरकार लड़ाई के बाद पाकिस्तान कायम करने की गारंटी अभी से दे दे, और उसके सम्बन्ध में जनमत सिर्फ मुसलमानों का ही लिया जाय। योजना के अनुसार, यह माँग पूरी न होने से, मुसलिम लीग ने भी उस योजना को स्वीकार न किया।

'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव—ब्रिटिश सरकार ने कई बार कहा है कि भारतवासियों की कोई ऐसी शासन-योजना नहीं है, जिसे सब आदमी स्वीकार करते हों, यहाँ देशी राज्यों, मुसलमान आदि अल्प-संख्यकों, और हरिजनों आदि की समस्याएँ हैं। इसलिए इन्हें पूरा शासन अधिकार नहीं दिया जा सकता। पर जाननेवाले अच्छी तरह जानते हैं कि ये समस्याएँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद और कूटनीति की देन

हैं। बात यह है कि जब तक भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता मौजूद है, वह अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिक या प्रतिक्रियावादी नेताओं और संस्थाओं की पीठ ठोकती रहती है, और उनकी अनुचित माँगों और दुराग्रह या हठ के कारण कोई उचित और सर्वसम्मत समझौता नहीं हो सकता। इसका खूब अनुभव करके कांग्रेस ने ८ अगस्त १९४२ को 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव पास किया। उसने निश्चय किया कि अब अंगरेज भारतवर्ष को छोड़ दें, यहाँ शासक के रूप में न रहें, और भारतवर्ष की अपनी रक्षा स्वयं करने दें; हाँ, चीन आदि की सहायता के लिए युद्ध के समय ब्रिटिश या अमरीकन सेनाएँ यहाँ रह सकती हैं। सरकार को ऐसी बात कैसे अच्छी लगती! उसने अगले ही दिन कांग्रेस के अनेक बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाए ही कैद या नजरबन्द कर दिया। इससे जनता बेचैन हो गयी और जगह जगह ऐसे कार्य किये गये, जिनसे सवारी, माल ढोने, और दूसरे सरकारी कार्यों में बाधा हो। ये बातें जनता का व्यापक असंतोष जाहिर करनेवाली थीं। पर सरकार ने इसके लिए कांगेस को ही दोषी ठहराया, और खूब जोर का दमनकिया; यहाँ तक कि लोगों को सन् १८५७ के दमन की याद आ गयी।*

वर्तमान स्थिति—सन् १९३९ में जो राजनैतिक गतिरोध हुआ, वह १९४५ तक चलता रहा। इस वर्ष उसे दूर करने के लिए गवर्नर जनरल लार्ड वेवल ने ब्रिटिश अधिकारियों से सलाह मशविरा करके भारतीय नेताओं के सामने युद्धकाल के लिए एक कामचलाऊ योजना

*सन् १९४५ में ९ अगस्त से राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाने वाला था—९ अगस्त को शहीद दिवस, और दूसरी तारीखों में मजदूर, विद्यार्थी, महिला, हरिजन आदि का कार्यक्रम। सरकार ने उसे सार्वजनिक रूप में न होने दिया

रखी। यद्यपि इस योजना में राष्ट्रीय दृष्टि से कई दोष थे, कांग्रेस ने जनता के भोजन वस्त्र आदि सम्बन्धी विविध सङ्कटों को दूर करने तथा भारतवर्ष की आजादी का रास्ता साफ करने के विचार से इसे सफल करने की कोशिश की। लेकिन इसमें सब से बड़ी बाधा यह पैदा हुई कि श्री० जिन्ना ने यह दावा किया कि नयी केन्द्रीय सरकार के लिए सभी मुसलिम सदस्यों का चुनाव सिर्फ मुसलिम लीग ही करे, हालांकि बहुत से मुसलमान साम्प्रदायिक विचारों के नहीं है, और कांग्रेस में अच्छी तरह भाग लेते हैं; कांग्रेस के सभापति तक मुसलमान रह चुके हैं।* फिर, मुसलमानों के कई वर्ग मोमिन, शिया, अहरार, खाकसार दल, और यूनियन दल आदि ऐसे हैं, जो अधिकांश में मुसलिम लीग से बाहर हैं। भारतवर्ष के कुल नौ करोड़ मुसलमानों में लगभग साढ़े चार करोड़ तो अकेले मोमिन ही हैं। अगर वायसराय चाहते तो साम्प्रदायिक नेताओं की अवहेलना करके, राजनैतिक अड़ंगा दूर कर देते; पर यह बात ब्रिटिश सरकार को कहाँ तक स्वीकार होती!

विशेष वक्तव्य—राजनैतिक क्षेत्र में हमारा ध्येय स्वाधीनता प्राप्त करना है। यदि वेवल योजना अमल में आती तो हमें उसका उपयोग इसी दृष्टि से करना था, और भी कोई योजना होगी तो उसका यही उपयोग किया जायगा। और, ये योजनाएँ न होंगी तो भी हमें अपना रास्ता निकालना है। यह साफ जाहिर है कि हमें अपना ध्येय प्राप्त करने के लिए अभी कुछ और त्याग और तपस्या करनी है

---

* वेवल योजना पर विचार होते समय मौलाना अब्दुलकलाम आजाद कांग्रेस के सभापति थे, और उन्होंने इसी हैसियत से कांग्रेस की ओर से, नेताओं की कांन्फ्रेंस में भाग लिया था।

तो भी अब तक के आन्दोलन के कई सुफल हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। जनता में प्रेम और संगठन की वृद्धि हो रही है (राजनैतिक जागृति का मनोहर विकास हो रहा है, और हम अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को पहिचान रहे हैं। जिन धार्मिक और सामाजिक आदि सुधारों की ओर, वर्षों के प्रयत्न से भी लोगों का यथेष्ट ध्यान नहीं गया था, वे अब थोड़े दिनों में स्थान-स्थान पर अमल आने लग गये हैं। देशोद्धार-कार्य में छोटे बड़े सभी हिस्सा लेने लगे हैं। पिछले दिनों महिलाओं और बालकों ने जिस वीरता और साहस का परिचय दिया है, वह खूब आशाजनक है। हमें अपने सुन्दर भविष्य में पूरा विश्वास है, और हमें अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हर तरह का त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए

दसवां अध्याय

उपसंहार

होते हम किस तरह अगर कुछ काम न होता।
मिटे हुओं की तरह धरा पर नाम न होता॥
किसी काम ही के लिए जीवित हैं संसार में।
कितने ही तो बह गये कुटिल काल की धार में॥

× × ×

और नहीं कुछ सृष्टि बीच उद्देश्य हमारा।
शान्ति-निकेतन रहा सदा ही देश हमारा॥
डंका फिर बज जायगा, साम्य और सुख शान्ति का।
अन्धकार मिट जायगा, बैर स्वार्थ की भ्रान्ति का॥

—स्नेही

प्राक्कथन—जागृति की लहर बड़ी तेज़ी से आ रही है। परमात्मा

ने चाहा, हमारे देश-बन्धुओं ने अपनी कोशिश जारी रखी तो थोड़े ही समय में हमारा काफी विकास हो जायगा। चालीस करोड़ आदमियों का अच्छा सङ्गठन निस्संदेह संसार को चकित करने वाला होगा। भारतीय जनता के उत्थान का अर्थ है, मानव समाज के पाँचवें हिस्से की उन्नति। इससे जाहिर है कि भारतीय जागृति का प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है।

प्राचीन मिश्र, रोम, यूनान, बेबलिन, फ़ारिस आदि की सभ्यताओं का, समय की चपेटों से लोप हो गया। यद्यपि स्वार्थी विदेशियों तथा कुछ अदूरदर्शी स्वदेशियों ने भारतवर्ष को विध्वंस करने में कोई कसर उठा न रखी, फिर भी यह बूढ़ा भारत हिमालय की तरह मौजूद है; इसका अवश्य कोई विशेष कारण होगा। निदान, हमें निश्चय रखना चाहिए कि हमारा अभ्युदय होगा, और भारतवर्ष माता वसुन्धरा के लिए कल्याणकारी सन्देश देगा।

हमारा कर्तव्य—सौभाग्य से भारतवर्ष में सभी प्रकार की जागृति हो रही है। हाँ, गत डेढ़ सौ वर्ष में कभी धार्मिक या सामाजिक जागृति की प्रधानता रही, कभी शिक्षा या साहित्य सम्बन्धी कार्य की। इस समय खासकर राजनैतिक आन्दोलन ने सबका ध्यान खींच रखा है। विचारशील पाठकों को जिस दिशा में अपनी शक्ति का अधिक उपयोग होता मालूम हो, उसमें काफ़ी सहयोग प्रदान करना चाहिए, और दूसरे प्रकार की जागृति का महत्व समझते हुए उसमें सहायता देनेवालों से सहानुभूति रखनी चाहिए। आओ! हम अपनी अपनी शक्ति के अनुसार इस महान यज्ञ में अपनी भेंट चढ़ाएं। स्वर्ग में राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, दादाभाई नौरोजी, लो० तिलक आदि, तथा इस पृथ्वी पर म० गान्धी, जवाहरलाल नेहरू और

मौलाना अब्दुलकलाम आज़ाद आदि हमारे कार्यों को उत्सुकता से देख रहे हैं; हम सुयोग्य माता की सुयोग्य सन्तान साबित हों।

भारतीय जागृति के क्या क्या सुपरिणाम होंगे, इस विषय का विचार भारत-हित की दृष्टि से भी हो सकता है, और संसार-हित की दृष्टि से भी। पहले भारत-हित की दृष्टि से विचार करते हैं।

जागृत भारत——जागृति के अभी तक के प्रभाव से कुछ भारतीय सज्जनों को अपने विविध अधिकार पाने की दृढ़ इच्छा हो चली है, उन्हें अपने महत्वपूर्ण कर्तव्य के पालन का भी ध्यान रहता है। परन्तु अधिकांश समाज जैसे-तैसे अपने दिन पूरे करता है। उसकी जीवन-लीला में अभिमान करने योग्य कुछ बात नहीं। जब यहाँ जागृति का कार्य यथेष्ट हो जायगा तो यह देश, इसे सहन न करेगा। आपस के वादविवाद और लड़ाई-झगड़े स्वप्न हो जायँगे। सब को यथायोग्य अधिकार मिले रहेंगे; और हर एक का, अपना कर्तव्य पालने की ओर पूरा पूरा ध्यान होगा। हम दूसरे के सुख को अपना सुख समझ कर उसको बढ़ाने के लिए जी-जान से उद्योग करेंगे, तथा दूसरों के दुःखों को अपना दुख मान कर उनके हटाने में कोई कसर उठा न रखेंगे। अछूत जातियों का प्रश्न ही उठ जायगा; हिन्दू-मुसलमानों का भेद भाव अन्तर्ध्यान हो जायगा। सबकी ऊंची तथा पूरी शिक्षा की, और अच्छे स्वास्थ्य और आजीविका की, व्यवस्था होगी। शहरी और देहाती, अमीर ग़रीब, राजा प्रजा, मालिक नौकर, तथा व्यापारी और किसान सब अपने आपको एक ही राष्ट्रीय परिवार के अंग समझेंगे; आपस में खूब प्रेम से रहते हुए सचमुच सुखी जीवन व्यतीत करेंगे। उस समय प्रत्येक दर्शक को यह स्वीकार करना होगा, कि इस भूमि पर यदि कहीं स्वर्ग है तो

भारत है, और भारत ही है।

संक्षेप में, जागृत भारत का स्वरूप मित्रवर कर्ण कवि की, खास इसी पुस्तक के लिए लिखी हुई, नीचे की पंक्तियों में बताया जा सकता है—

जिस दिन होगा जागृति दान—
प्रभुवर ! उस दिन फिर भारत का होगा गौरव गान।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥ १ ॥
धार्मिक, सामाजिक विषयों पर जमा रहेगा ध्यान।
शिक्षा फैल जायगी, होगा शुचि साहित्यिक ज्ञान।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥ २ ॥
सचमुच औद्योगिक धन्धों में होगी वृद्धि महान।
कोटि कोटि भारत सन्तति का होगा पुनरुत्थान।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥ ३ ॥
सुभग स्वराज्य ध्येय ठहराने पर होगा अभिमान।
अहो ! 'कर्ण' कवि प्राप्त हमें फिर होगा उच्च स्थान।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥ ४ ॥

भारतीय जागृति से परोपकार—निस्संदेह जागृत भारत स्वर्ग समान होगा, परन्तु भारत के स्वर्ग होने के लिए संसार के दूसरे देशों को नरक बनना नहीं होगा। चहुँ ओर नरककुँड की दुर्गंध से घिरा हुआ कोई देश स्वर्गीय जीवन का आनन्द नहीं ले सकता। अगर ऐसा सम्भव भी हो तो हमें यह पसन्द नहीं। हम जीना चाहते हैं तो दूसरों को मार कर नहीं। हमारी यह प्रबल इच्छा है कि हमारे जीवन से दूसरों को जीवन मिले, हमारा सुख दूसरों के लिए भी हितकर हो।

आधुनिक सभ्यता—जागृत भारत मनुष्य-मात्र को आधुनिक

सभ्यता के सच्चे स्वरूप से अच्छी तरह परिचित करायेगा। वर्तमान सभ्यता के खूबसूरत फूल के अन्दर शहद की मक्खी का डंक है। इसकी जिस भौतिक उन्नति का उद्देश्य मनुष्य की सेवा करना था, वह अब समाज को रौंद रही है। देश के मुट्ठी भर आदमियों को लखपती और करोड़पती बनाकर यह असंख्य जनता को अन्न-वस्त्र की साधारण आवश्यकताओं के लिए भी तरसाती रहती है। छल कपट और स्वार्थ इसके मूल मंत्र है; व्यापार और उद्योग इसके साधन हैं। 'निर्बल होना महा पाप है', अथवा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', इस सभ्यता की शिक्षा है। जेलखाने, पागलखाने, आत्महत्या इसके चमत्कार हैं, और व्यभिचार, मद्यपान, मांस भक्षण, अविश्वास, ईर्ष्या या डाह और चिन्ता इसके द्वारा सींचे जाने वाले पेड़ हैं। 'शांति चाहते हो तो अस्त्र शस्त्रों से, लड़ने को तैयार रहो', यह इसका नवीन आविष्कार है। क्या-क्या गिनावें. इसके विज्ञान की ऐसी ही महिमा है।

मानव समाज को सन्देश—जागृत भारत इस सभ्यता की आलोचना करके मानव समाज को बतलाएगा कि प्रकृति पर विजय पाना मनुष्य के लिए केवल उसी समय हितकर हो सकता है जबकि वह पहले अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ले; अपनी इन्द्रियों को दमन करना सीख कर सांसारिक विषय-वासनाओं की गुलामी से मुक्ति पाले। फिर, मनुष्यों की असली भलाई दूसरों की भलाई में है, दूसरों को मारकर जीने की इच्छा रखनेवालों का जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता। 'जीओ और जीने दो' की नीति से ही जगत का काम चल सकता है। दूसरों को कुली और मज़दूर बनाकर मालिक बननेवालों की, अन्त में ख़ैर नहीं। योरप अमरीका की गोरी जातियाँ उतने अधिकारों से ज्यादा की अधिकारी नहीं, जितनों की एशिया या

अफ्रीका को काली या पीली जातियाँ अधिकारी हैं। रंग, देश तथा जातीयता के भेद-भावों से मनुष्य जाति जुदा-जुदा हिस्सों में बटी होने पर भी, सब एक ही परमपिता की सन्तान हैं। जो जितना अधिक योग्य है, अधिक बड़ा है, उतना ही अधिक वह दूसरों की भलाई का उत्तरदायी है। सब मनुष्य जब इस प्रकार अपने अधिकारों का उपयोग करेंगे, तब इस संसार का विलक्षण कायाकल्प होगा।

सिर्फ पांच-पांच दस-दस सदियों की छोटी छोटी उम्र वाले नटखट राष्ट्रो! ज़रा सोचो! स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी न मारो। बूढ़े बुजुर्ग भारत को नष्ट करके तुम सुखी नहीं हो सकते। आडम्बरपूर्ण जीवन में तुम अनेक प्रकार की मानसिक व्यथाओं का अनुभव कर रहे हो। भारत-माता सादगी, सेवा और त्याग के आदर्श से तुम्हारे सब कष्टों का अन्त कर सकती है। परन्तु अभागो! तुम अपने वैद्य को ही मारकर जीवित रहना चाहते हो। तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है! भारतवर्ष का उत्थान करो, उसमें तुम्हारा भी कल्याण है।

संसार के इतिहास में भारतीय जागृति का स्थान--संसार में प्रत्येक क्रान्ति का एक विशेष उद्देश्य होता है, वह मानव समाज के सामने कुछ विशेष आदर्श या विचार रखती है। उदाहरण के लिए फ्रांस की राजक्रांति का ध्येय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा था। उसने समय पाकर अपनी बागडोर नेपोलियन को सौंप दी, और वह महापुरुष महत्वाकांक्षी बन कर अपने आपको अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने में लग गया। त्याग और सेवा उसका आदर्श न रहा। इसलिए वह राजक्रान्ति बहुत खून बहा कर भी स्वतन्त्रताप्राप्ति से आगे न बढ़ सकी।

हमारे देखते-देखते आयर्लैंड, चीन, जापान, अफगानिस्तान, टर्की

और मिश्र आदि बहुत से देशों में क्रांतियाँ हुईं और देश काल के अनुसार वे फलदायक भी हुईं। सब से अधिक प्रभावपूर्ण क्रान्ति रूस की हुई है। इसने पूँजीवाद का बल-पूर्वक नाश करके जनसाधारण को राजसत्ता प्रदान की, तथा अमीर गरीब, ज़मीदार किसान आदि के भेद-भाव को मिटाकर फ्रांस की राजक्रान्ति के दूसरे उद्देश्य 'समता' या समाजवाद की घोषणा की। यह होने पर भी संसार में भाईचारे या भ्रातृत्व की दुन्दुभी बजना अभी शेष है। इसके लिए रक्तपात या बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं। ज़रूरत है, त्याग और सेवा भाव की, अहिंसा और सत्याग्रह की, तथा प्रेम-भाव से दुर्भावनाओं को मिटाने की। ये बातें भारतीय जागृति के आन्दोलन में पायी जाती हैं।

सम्भव है, जिस आदर्श को प्राप्त करने के लिए संसार कई सदियों से इन्तजार कर रहा है, और जिसे फ्रांस और रूस की बड़ी-बड़ी खूनी क्रांतियों ने भी प्रदान नहीं किया, वह कार्य बूढ़े और बुजुर्ग भारत की परोपकारी सभ्यता द्वारा ही पूरा होनेवाला हो। अस्तु, प्रभु की कृपा हो! भारत की जागृति हो, चारों दिशाओं में सुख शान्ति हो! वन्दे मातरम्।



विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी पुस्तकें

१—**भारतीय शासन**—भारतवर्ष की शासनपद्धति जानने के लिए आइने का काम देने वाली ! नवाँ संस्करण, सन् १६४४ ई० । मूल्य १॥)

२—**भारतीय विद्यार्थी विनोद**—भाषा, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, गणित आदि दस पाठ्य विषयों की उपयोगिता । मातृभूमि जीवन का लक्ष्य, आदि विषयों का विवेचन । तीसरा संस्करण । मूल्य ॥=)

३—**नागरिक शिक्षा**—सेना, पुलिस, न्याय, जेल, कृषि उद्योग-धन्धे, शिक्षा-स्वास्थ्य आदि विषयों का सरल भाषा में विचार । नागरिकता की व्यावहारिक शिक्षा । चौथा संस्करण । मूल्य ॥≥)

४—**नागरिक कहानियाँ**—निर्वाचन, मताधिकार, ग्राम सुधार, कर्तव्य-पालन, अस्पृश्यता-निवारण और शिक्षाप्रचार आदि विषयों की प्रभावशाली कहानियाँ । मूल्य ॥=)

५—**ब्रिटिश साम्राज्य शासन**—ब्रिटिश साम्राज्य कैसे बना, इंगलैंड का शासन किस तरह होता है, और ब्रिटिश साम्राज्य के स्वाधीन और पराधीन देशों में कैसी शासनपद्धति प्रचलित है ? इन प्रश्नों का ब्योरेवार उत्तर । तीसरा संस्करण । मूल्य १।)

६—**मातृ बन्दना** देश भक्ति की शिक्षा देने वाली और जननी जन्म-भूमि की पूजा पाठ के लिए उपयोगी। तीसरा संस्करण । मूल्य ।=)

७—**हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ**—राष्ट्र-भाषा, राष्ट्रीय साहित्य, कौमी झण्डा; राष्ट्रीय गान, राष्ट्र लिपि, कौमी तालीम, हिन्दुस्तान की आज़ादी आदि पर भावपूर्ण विचार । सातवाँ संस्करण । मूल्य १)

८—**भावी नागरिकों से**—इसमें विद्यार्थी किसान, मज़दूर लेखक अध्यापक आदि नागरिकों की सभी कठिनाइयों को हल करने का प्रयत्न किया गया है । मूल्य १।)

९—**इंगलैण्ड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति**—यह पुस्तक खासकर उन विद्यार्थियों के लिए है जो संयुक्तप्रान्त में हाई स्कूल कक्षाओं में इतिहास का विषय लेते हैं । हरेक अध्याय के अन्त में उसका सारांश तथा आवश्यक प्रश्न भी दिये गये हैं । मूल्य १)

पुस्तकों की पूरी सूची आगे कवर पर देखिए

भारतीय ग्रन्थमाला

भारतीय शासन (नवाँ संस्करण)	...	१॥
भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा संस्करण)	...	॥=
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (सातवाँ संस्करण)	...	१
हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा संस्करण)	...	१
भारतीय सहकारिता आन्दोलन (दूसरा संस्करण)	...	२॥।
भारतीय जागृति (चौथा संस्करण)	...	२
विश्व वेदना	...	॥।=)
भारतीय राजस्व (दूसरा संस्करण)	...	॥।=)
निर्वाचन पद्धति (चौथा संस्करण)	...	॥।)
नागरिक कहानियाँ	...	॥=)
राजनीति शब्दावली (दूसरा संस्करण)	...	॥।)
नागरिक शिक्षा (चौथा संस्करण)	...	॥≡)
ब्रिटिश साम्राज्य शासन (चौथा संस्करण)	...	१।)
श्रद्धाञ्जली	...	॥।=)
भव्य विभूतियाँ	...	॥=)
अर्थशास्त्र शब्दावली (दूसरा संस्करण)	...	१)
कौटल्य के आर्थिक विचार (दूसरा संस्करण	...	॥।=)
अपराध चिकित्सा	...	१॥)
पूर्व की राष्ट्रीय जागृति	...	१॥)
भारतीय अर्थशास्त्र (तीसरा संस्करण)	...	२॥।)
साम्राज्य और उनका पतन	...	१)
मातृ वन्दना (तीसरा संस्करण)	...	।
देशी राज्य शासन	...	३
विश्व संघ की ओर	...	२
भावी नागरिकों से	...	१
इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति		

भगवानदास केला, भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, प्रयाग